

जीव कहाँ अटक रहे हैं ?



अज्ञानी जीव जगत से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप से च्युत होकर देश का-पर का-घर का और शरीरादि का कार्य करने के अभिमान में अटक जाते हैं। यदि धर्म के नाम से आगे बढ़ते भी हैं तो दया-व्रतादि के शुभराग में धर्म मानकर वहाँ रुक जाते हैं; किन्तु शरीरादि की क्रिया से भिन्न तथा शुभराग के भी पार—ऐसे अपने ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा का लक्ष नहीं करते, इसलिये उनके जन्म-मरण के दुःखों का अंत नहीं आता। अनादि काल में पुण्य किये, तथापि जीव संसार में ही भटक रहा है; तो उस संसार का मूलकारण क्या है—उसे जानकर दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२३३]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

— नया प्रकाशन —

श्री समयसारजी परम अध्यात्म-शास्त्र

(तीसरी आवृत्ति)

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत सर्वोत्तम अध्यात्मशास्त्र, श्री अमृतचंद्राचार्य कृत संस्कृत टीका सहित हिन्दी अनुवाद। प्रकाशक श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़।

यह अद्वितीय जगतचक्षु समान आध्यात्मिक ग्रन्थाधिराज है, परिभाषण पद्धति से जो सूत्र रचना हो, वह सर्वोत्तम मानी जाती है। जैसी मूल सूत्रों की सर्वोत्तम रचना श्री कुन्दकुन्दाचार्य की है, ठीक वैसी ही आत्मख्याति नामक टीका सर्वोत्तम है, वीतरागता, और स्वतंत्रता ग्रहण करने की रुचि से पढ़ने से उसका रसास्वाद आता है।

जिसमें ज्ञानी-अज्ञानी जीवों का स्वरूप, भेदविज्ञान, नवतत्त्वों का रहस्य खोलनेवाले सात अधिकार, कर्ताकर्म, सर्वविशुद्धज्ञान, अनेकांत, ४७ शक्ति, मोक्षमार्ग का स्वरूप, साध्यसाधकभाव का स्वरूप आदि का सुस्पष्ट वर्णन है। उस पर सातिशय प्रचंड निर्मल तत्त्वज्ञान के धारक अजोड़ महर्षि श्री अमृतचंद्राचार्य की सर्वोत्तम संस्कृत टीका है। अत्यंत अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) जीवों को भी जिसमें समझाया गया है। हिन्दी अनुवाद, तीसरी आवृत्ति, इस ग्रंथ में गाथाएँ लाल स्याही से छपी हैं, कुछ गाथाएँ सुनहरी कलर में हैं। बढ़िया कागज पर सुंदर ढंग से छपने पर भी मूल्य लागत से भी बहुत कम रखा है, सभी जिज्ञासु यथार्थतया लाभ लेवें, इसी भावनावश इस ग्रंथाधिराज का मूल्य मात्र ५) रुपया रखा है। पोस्टेजादि अलग। पृष्ठ संख्या ६४१ बड़े आकार की है।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

पोस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

[नोट—यह शास्त्र बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, भोपाल, सागर, उज्जैन, विदिशा, लश्कर, इन्दौर, उदयपुर, गुना, अशोकनगर, मदनगंज आदि गाँवों में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा प्राप्त हो सकेंगे।]



अक्टूबर : १९६४ ☆ वर्ष २० वाँ, आश्विन, वीर नि०सं० २४९० ☆ अंक : ५



अध्यात्मपद कविवर दौलतरामजी कृत



पद (८)

तोहि समझायौ सौ-सौ बार, जिया तोहि समझायो सौ० ।टेक॥
देख सुगुरु की परहित में रति, हित उपदेश सुनायो ॥ सौ-सौ बार ॥१॥
विषय भुजंग सेय दुख पायो, पुनि जिन सौं लपटायो ।
स्वपद विसार रच्यो परपद में, मदरत ज्यों बोराये ॥ सौ-सौ बार ॥२॥
तन धन स्वजन नहीं हैं तेरे, नाहक नेह लगायो ।
क्यों न तजै भ्रम चाख समामृत, जो नित सन्त सुहायो ॥ सौ-सौ बार ॥३॥
अबहूँ समझ कठिन यह नर भव, जिनवृष बिना गमायो ।
ते बिलखे मणि डार उदधि में, दौलत को पछतायो ॥ सौ-सौ बार ॥४॥

अरे! व्यर्थ मोहवश....

[दूसरों को प्रसन्न करने और दूसरों से प्रसन्न होने के लिये इस जीव अनंत बार अपना महान उत्तम अवसर व्यर्थ ही गँवा दिया ! हित करने की इच्छा तो रखता है, किंतु अहित को ही हित मानता है; अहित के उपाय को हित का अर्थात् सुख का उपाय मानता है; जिसका एक दृष्टांत देते हैं:—]

कथा:— एक नगर में सफेद और काला दो कुत्ते जा पहुँचे, उनमें से सफेद कुत्ता तो एक सेठ की गली में रहने गया, जहाँ उसे रोज अच्छा-अच्छा खाना मिलता था। किंतु काला कुत्ता एक निर्धन लोभी की गली में रहने गया, जहाँ उसे भरपेट खाना न मिलने से वह दुबला हो गया था। न तो कोई उसे घर में घुसने देता और न खाना ही देता था। उल्टे मार ही खानी पड़ती थी। एक दिन दोनों कुत्ते रास्ते में मिल गये। काले कुत्ते को दुबला और उदास देखकर सफेद कुत्ते ने कहा कि भाई! तू उस गली में रहकर क्यों दुःख उठा रहा है? यदि तू मेरी गली में आकर मेरे साथ रहने लगे तो बड़े मजे में रहेगा। काले कुत्ते ने कहा कि भाई! मैं तुम्हारे साथ अवश्य रहता, परंतु अपनी गली में मैं भूखा-प्यास रहकर और मार खाकर भी प्रसन्न हूँ; क्योंकि वहाँ मुझे दो संतोषजनक शब्द सुनने को मिलते हैं, जिन्हें सुनकर मैं प्रसन्न रहता हूँ। बात यह है कि—उस गली में रहनेवाली एक सास अपनी बहू को प्रतिदिन गालियाँ देती है और कहा करती है—‘कलुआ कुत्ता की बहू!’ ...बस, यह शब्द सुनकर मैं अपना सारा दुःख भूल जाता हूँ। इसीलिये वह गली छोड़ने को मेरा जी नहीं चाहता।

यही हाल संसारी मोही प्राणियों का है। वे अनेक विषमताओं से भरे हुए दुःखों को भोगते हुए भी नाम और यश के लोभ में पड़कर तथा मानादि के वशीभूत होकर प्रसन्नता से भटक रहे हैं; किंतु मैं पर से भिन्न अनादि-अनंत चिदानंद आत्मा हूँ, मुझमें ही सुख और सुख का उपाय विद्यमान है—उसकी प्रतीति-रुचि नहीं करते। वे भला तो चाहते हैं किंतु उसका सच्चा उपाय नहीं करते। वे मिथ्या प्रयत्नों को ही यथार्थ प्रयत्न मानते हैं।



आत्महित रूप मोक्षमार्ग किसे मानें ?

[श्री समयसारजी, गाथा ४०८ से ४१० पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

(तारीख १८-८-६२)

मुनिलिंग को अथवा गृहस्थीलिंग को बहुभाँति के।

ग्रहण कहत हैं मूढ़जन, 'यह लिंग मुक्तीमार्ग है' ॥४०८॥

वह लिंग मुक्तीमार्ग नहिं अर्हत, निर्मम देह में।

बस लिंग तजकर ज्ञान अरु चारित्र, दर्शन सेवते ॥४०९॥

अन्वयार्थ—अनेक प्रकार के मुनिलिंगों को अथवा गृहस्थलिंगों को ग्रहण करके मूढ़ (-अज्ञानी) जन ऐसा मानते हैं कि—यह बाह्यलिंग (देह, देह की क्रिया और महाव्रतादि के शुभ विकल्प) मोक्षमार्ग हैं; परंतु (उन) लिंग मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि अरिहंतदेव देह के प्रति निर्मम वर्तते हुए लिंग को छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही सेवन करते हैं।

टीका—श्री आचार्यदेव करुणाबुद्धि से कहते हैं कि—लोग द्रव्यलिंग के (अर्थात् शुभराग-अट्टाईस मूलगुणों के) शुभविकल्प को मोक्षमार्ग मानते हुए मोह से द्रव्यलिंग को ही ग्रहण करते हैं कि जो पद्धति योग्य नहीं है।

जिन्हें निर्विकल्प शुद्ध ज्ञानानंदस्वरूप का भान नहीं है, वे जहाँ धर्म नहीं है, वहाँ आत्मा का धर्म मानकर बाह्य वेश, नग्नशरीर, मोरपिच्छ, कमंडल और अट्टाईस मूलगुणों के विकल्प अथवा क्षुल्लक आदिरूप से संप्रदाय के वेश को ही ग्रहण करते हैं।

प्रथम सर्वज्ञ-वीतराग कथित तत्त्वज्ञान द्वारा निर्मल सम्यग्दर्शन ग्रहण करना चाहिये। उसके भान बिना आवेश में आकर नग्नदशा मुनिवेश धारण करते हैं, द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग मानकर उसका ग्रहण करते हैं, वह ग्रहण करना अयोग्य है। कोई कहे कि—प्रथम शुभभाव में आने के पश्चात् निर्मल श्रद्धा-ज्ञान कर सकेगा न? इसलिये प्रथम ऐसा व्यवहार तो होना ही चाहिये; तो उसे तत्त्वज्ञान के प्रति अरुचि है। भगवान ने तो सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन को ही आत्महित की प्रथम सीढ़ी कहा है, उसका वे विरोध करनेवाले हैं।

यदि द्रव्यलिंग, शुभराग की क्रिया मोक्षमार्ग होता तो जिनेन्द्रदेव ने, आचार्यों ने ऐसा क्यों कहा कि—वह द्रव्यलिंग है—मोक्षमार्ग नहीं है? उनके तो आत्मा का शुद्धज्ञानमयपना होने से

द्रव्यलिंग के आश्रयभूत शरीर और शुभराग की ममता का त्याग होता है; इसलिए (अर्थात् प्रथम श्रद्धा में और फिर चारित्र में उसके आश्रय का त्याग होने से) उनके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की मोक्षमार्गरूप से उपासना देखी जाती है। बीच में शुभ व्यवहार निमित्तरूप होता है, किंतु उसे छोड़ने से मोक्षमार्ग है अर्थात् उसका आश्रय छोड़ने से मोक्षमार्ग है। शुभराग तो बाह्य निमित्तरूप है, यदि वह स्वयं मोक्षमार्ग हो तो भगवंतों ने उसका आश्रय छोड़कर वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग का उपदेश क्यों दिया है? व्यवहार का आश्रय, निश्चय का आश्रय किये बिना नहीं छूटता। इससे यही सिद्ध होता है कि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, किंतु पराश्रय से निरपेक्ष आत्माश्रित दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही (वीतरागभाव ही) मोक्षमार्ग है, ऐसा सिद्ध होता है।

मुनिलिंग अरु गृहीलिंग-ये नहिं लिंग मुक्तीमार्ग है।

चारित्र-दर्शन-ज्ञान को बस मोक्षमार्ग प्रभू कहे ॥४१०॥

मुनि के और गृहस्थ के लिंग (चिह्न) यह मोक्षमार्ग नहीं हैं; दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जिनदेव मोक्षमार्ग कहते हैं।

नियमसार गाथा १३४ में कहा है कि—श्रावक और श्रमण दोनों वीतरागभावरूप शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करते हैं।

कलश नं० २२० में कहा है कि—जो जीव भवभय के हरनेवाले इस शुद्ध सम्यक्त्व की, शुद्ध ज्ञान की और चारित्र की भवछेदक अतुल भक्ति निरंतर करते हैं, वे काम-क्रोधादि समस्त दुष्ट पापसमूह से मुक्त चित्तवाला जीव-श्रावक हो या संयमी हो—निरंतर भक्त है, भक्त है।

यहाँ समयसार में भी स्पष्ट कहते हैं कि—द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि वह शरीराश्रित होने से परद्रव्य है; व्रत, भक्ति आदि शुभभाव भी शरीराश्रित होने से परद्रव्य हैं, आस्रवतत्त्व हैं, अनात्मा हैं, अजागृतभाव हैं, तथा चैतन्य की जागृति को रोकनेवाले हैं, इसलिये हेय हैं।

सम्यग्दृष्टि के शुभभावरूप व्यवहाररत्नत्रय है, वह भी परद्रव्य के आश्रयरूप आस्रवतत्त्व है, अनात्मा है, शुद्धभाव से विरोधी भाव है, इसलिये परद्रव्य हैं; मात्र आत्माश्रित दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है; क्योंकि वे स्वद्रव्य हैं।

प्रश्न—श्रावक को मुख्य शुभभाव है, वह परम्परा से मोक्ष का कारण होता है—ऐसा प्रवचनसार के चरणानुयोग अधिकार में कहा है; उसका अर्थ क्या?

उत्तर—मोक्ष का और मोक्षमार्ग का सच्चा कारण तो स्वद्रव्याश्रित वीतरागभाव ही है, राग नहीं है; परंतु निचलीदशा में स्वोन्मुखतारूप पुरुषार्थ मन्द होता है और अशुभ को दूर करते हैं; जो शुभराग शेष रहा, उसे भी हटाकर ही मोक्ष प्राप्त करेंगे। इसप्रकार का राग वहाँ निमित्तरूप से होता है, उसके अभावपूर्वक मोक्ष प्राप्त करेंगे—ऐसा बतलाने के लिये ऐसे शुभव्यवहार को परम्परा मोक्ष का कारण कहा है; और वह असद्भूतव्यवहारनय का कथन है।

त्रिकाल अबाधित नियम है कि—स्वद्रव्याश्रित मोक्षमार्ग है। आत्माश्रित निर्मल पर्यायरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह मोक्षमार्ग है; अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है।

व्यवहार तो परद्रव्याश्रित रागभाव है। उपदेश में शास्त्र में व्यवहार की और बाह्य प्रवृत्ति की बात आये, वहाँ राग की रुचिवाले जीव संतुष्ट हो जाते हैं और कहते हैं कि—हाँ... अब हमारी मानी हुई बात आयी!—निमित्त व्यवहार तो होना ही चाहिये। श्रद्धा भले ही निश्चय की हो किंतु प्रवृत्ति में तो व्यवहार होना ही चाहिये।—ऐसा माननेवाले परद्रव्य के आश्रय से धर्म (संवर-निर्जरा) मानते हैं, किंतु वह है नहीं; इसलिये पराश्रय में रुचि रखनेवाले आत्महित कदापि नहीं कर सकते।

प्रथम से ही दृष्टि और चारित्रधर्म वीतरागभाव ही है—इस बात का निश्चय तो करो! जिसकी आवश्यकता हो, उसे प्राप्त किये बिना नहीं रहता। कहा भी है कि—‘रुचि अनुयायी वीर्य।’

निश्चय के ज्ञान के साथ व्यवहारनय के विषय को जाननेवाले ज्ञान को युक्त करना, उसका नाम व्यवहारनय का प्रयोजन है। गुणस्थान के अनुसार स्वद्रव्य के आश्रय से अंशतः शुद्धि होती है और अंशतः अशुद्धि (शुभ-अशुभभाव) होती है, उसे उसप्रकार से जाने, उसका नाम व्यवहारनय को जाना प्रयोजनवान है।

भावार्थ—लिंग है, सो देहमय है; देह पुद्गलमय है; इसलिये आत्मा को देह-देह की क्रिया नहीं है। राग की क्रिया आत्माश्रित नहीं है, राग की क्रिया मोक्षमार्ग नहीं है, अर्थात् वह स्वयं अचेतनभाव है, उसमें चैतन्य की जागृति का अंश कदापि नहीं हो सकता, इसलिये वह परद्रव्य है। परमार्थतः अन्य द्रव्य को अन्य द्रव्य कुछ नहीं कर सकता—ऐसा नियम है। (४१०)



पारमार्थिक भेदविज्ञान

यह पुरुष अपने आत्मा को शरीरादिक से भिन्न श्रवण करता हो, कथन करता हो, तथापि जब तक भेदाभ्यास में निष्ठित (परिपक्व) न हो, तब तक भेदविज्ञान की निरंतर भावना करना चाहिये, क्योंकि निरंतर भेदज्ञान के अभ्यास से ही शरीरादिक का ममत्व छूटता है। (ज्ञानार्णव-८५)

आत्मा को आत्मा के द्वारा ही आत्मा में ही शरीर से भिन्न विचार करना चाहिये कि जिससे पुनः यह आत्मा स्वप्न में भी शरीर की संगति प्राप्त न करे अर्थात् मैं शरीर हूँ—ऐसी बुद्धि स्वप्न में भी न हो—ऐसा निश्चय करना चाहिये। (ज्ञानार्णव-८६)

सर्वत्र करने योग्य कार्य तो मात्र आत्मार्थ ही है

वही प्रयत्न करना योग्य कि जिससे भ्रांति को छोड़कर आत्मा की स्थिति आत्मा में ही हो; तथा वही विषय जानना चाहिये और उसी को वचन से कहना—सुनना चाहिये एवं उसी का विचार करना चाहिये। (ज्ञानार्णव-६६)

❀ विनयपूर्वक पढ़े गये शास्त्र का कदाचित् प्रमाद से विस्मरण भी हो जाये, तो परभव में वह (अल्प प्रयास से) उपस्थित हो जाता है और केवलज्ञान की प्राप्ति कराता है।

(धवल पुस्तक ९, पृष्ठ-२५९)

❀ आत्मस्वरूप का अनिश्चय ही मुख्य अंतराय है।

❀ स्त्री के स्वरूप का मोह रोकने के लिये उसकी ऊपरी त्वचा रहित भीतरी रूप का बारम्बार चिंतन करना योग्य है।

❀ जिसने मन को वश में किया, उसने जगत को वश में कर लिया।

❀ भेदविज्ञानी जीव स्वसन्मुख ज्ञातापन का धैर्य से (—ध्रुवज्ञायकस्वरूप के अवलंबन के बल से) यह अपूर्व कार्य करते ही हैं।

❀ अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत चारित्र और अनंत वीर्य से अभेद ऐसे आत्मा का एक क्षण भी विचार करो। चंचल चित्त ही सर्व विषम दुःखों का मूल है। उस वस्तु के विचार में जाओ कि जो वस्तु अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप है।

❀ सर्व पापों में प्रथम पाप हित-अहित का अज्ञान है। और उसमें परनिन्दा को ही सबल पाप मानना चाहिये।

निश्चय-व्यवहार का प्रयोजन

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' गाथा-४ में कहा है कि—

मुख्योपचार विवरण निरस्तदुस्तर वेनेयदुर्बोधाः ।

व्यवहार निश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥४॥

अर्थ:—निश्चय और व्यवहार को जाननेवाले आचार्य इस लोक में धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। आचार्य कैसे होते हैं? कि मुख्य (–निश्चय) और उपचार (–व्यवहार) निरूपण द्वारा शिष्यों के दुर्निवार अज्ञान को नष्ट किया है—ऐसे उपदेशदाता होते हैं।

भावार्थ:—उपदेशदाता आचार्य में अनेकों गुण होना चाहिये; परंतु निश्चय और व्यवहार का ज्ञातृत्व मुख्यरूप से आवश्यक है; क्योंकि जीवों को अनादिकाल से अज्ञानभाव है, वह मुख्य और उपचार कथन के ज्ञातृत्व से दूर होता है। उसमें मुख्य कथन तो निश्चयनय के आधीन है, वही बतलाया जाता है। स्वाश्रित, वह निश्चय है—जो अपने ही आश्रित हो, उसे निश्चय कहा जाता है। जिस द्रव्य के अस्तित्व में जो भाव हो, उस द्रव्य में उसी का स्थापन करना चाहिये; उसमें परमाणु मात्र भी—किंचित् भी अन्य की कल्पना न करना, उसे स्वाश्रित अर्थात् उसका कथन सो मुख्य (–निश्चय) कथन कहा जाता है। उसे जानकर अनादि शरीरादिक परद्रव्यों से एकत्व की श्रद्धारूप अज्ञानभाव का अभाव और निर्मल भेदज्ञान की प्राप्ति होती है; सर्व परद्रव्यों से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप का अनुभव होता है और तब (यह जीव) परम आनंददशा में मग्न होकर केवलदशा को (शुद्ध परमात्मदशा को) प्राप्त होता है।

जो अज्ञानी इसे (निश्चय को) जाने बिना धर्म करने लगता है (मैं भी आत्महितरूप धर्म करता हूँ—ऐसा मानता है), वह शरीराश्रित क्रियाकाण्ड को उपादेय (हितकारी, कर्तव्य) जानकर, शुभोपयोग जो संसार का ही कारण है, उसी को ही मुक्ति का कारण मानकर स्वरूप से भ्रष्ट (स्वरूप के निर्मल श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव से भ्रष्ट) हुआ वह संसार में ही भटकता रहता है। इसलिये मुख्य कथन का (निश्चयनय के विषय का) ज्ञातृत्व अवश्य होना चाहिये। वह ज्ञातृत्व निश्चयनय के आधीन है, इसलिये उपदेशदाता निश्चयनय का जाननेवाला होना चाहिये; क्योंकि यदि स्वयं ही मुख्य वस्तु को न जाने तो शिष्यों को कैसे समझायेगा?

*पराश्रित व्यवहार अर्थात् जो परद्रव्याश्रित हो, उसे पराश्रित व्यवहार कहा जाता

है—पराश्रित उपचार—कथन कहा जाता है। उसे जानकर शरीरादिक से संबंधरूप संसारदशा को जानकर, संसार के कारण जो आस्रव (मिथ्यात्वादिक) और बन्ध, उन्हें जानकर मुक्ति का उपाय जो संवर—निर्जरा, उसमें प्रवर्तन करे किंतु अज्ञानी उसे जाने बिना शुद्धोपयोगी होना चाहता है, वह या तो प्रथम ही व्यवहार साधन को छोड़कर पापाचरण में लगकर नरकादि दुःखों—संकटों में पड़ता है, इसलिये उपचार कथन का भी ज्ञातृत्व होना चाहिये। वह उपचार कथन व्यवहारनय के आधीन है; इसलिये उपदेशदाता को व्यवहार का भी ज्ञातृत्व होना चाहिये। इसप्रकार दोनों नयों को जाननेवाले आचार्य धर्मतीर्थ के प्रवर्तक हैं—अन्य नहीं। (स्व० पंडित टोडरमलजी कृत टीका)

*[कलकत्ता से प्रकाशित पुरुषार्थसिद्धिचुपाय पुस्तक की फुटनोट]—जिस द्रव्य के अस्तित्व में जो भाव हो, उसी द्रव्य में उसका स्थापन करे, तथा किंचित्मात्र अन्य कल्पना न करे, उसे स्वाश्रित—निश्चयनय कहते हैं और किंचित्मात्र कारण प्राप्त करके किसी द्रव्य के भाव किसी द्रव्य में स्थापन करे, उसे पराश्रित व्यवहारनय कहते हैं।



★ पुरुषार्थपूर्वक उद्यमी के विचार ★

आत्महित में सावधान जीव प्रथम से ही ऐसे विचार करता है कि अहो! विगत काल में अपनी भूल का क्या वर्णन करूँ? महा खेद है कि मैं ज्ञानानंदमय अनंत गुण रूपी कमलों को विकास करने में समर्थ बनता हूँ, तथापि शांतस्वभाव में चित्त लगाना छोड़कर परद्रव्य में अपनी इच्छानुसार परिणमन होता है—ऐसी मिथ्या श्रद्धा से संसार वन में मैं अपने ही द्वारा ठगा गया था।

अपने विभ्रम से उत्पन्न शुभ-अशुभ रागादि के अतुल बंधन द्वारा अनंत काल तक संसाररूपी दुर्गम मार्ग में विडंबनारूप होकर मैंने ही विपरीत आचरण किया; अब मैं आत्मा का ही अवलोकन करूँ। मिथ्यात्व-रागादिरूपी संसार नामक ज्वररोग से मुझे मूर्च्छा, ममता और तृष्णा होने से हित-अहित जानने में मैं ही अंध हुआ था, इसलिये अपने भेदविज्ञान से प्रगट होनेयोग्य मोक्षमार्ग को मैंने नहीं जाना, नहीं देखा, अनुभव नहीं किया।

अहो! मेरा आत्मा समस्त लोक का दृष्टा अद्वितीय नेत्र है—ऐसा परमतत्त्व है; तथापि अविद्या-मिथ्याज्ञानरूपी भयंकर मगर द्वारा सम्यग्ज्ञान का घात हो रहा है—ऐसा मैंने नहीं जाना।

मेरा आत्मा परमात्मा है, परमज्योति चैतन्य-प्रकाश स्वरूप है, जगत में श्रेष्ठ है, महान है, तथापि वर्तमान देखनेमात्र रमणीय और नीरस अथवा स्वादिष्ट विषफल समान इन्द्रियों के विषय और उनके प्रेम से मैं ठगा गया हूँ।

शरीर रखने से नहीं रहेगा। दिन-रात देहार्थ ममत्व को लेकर यह जीव स्वात्मबोध से वंचित रहता है, देह की माया को भूलकर स्वरूप में विश्रान्तिवान होने से ही तुझे यथार्थ सुख के किनारे की झाँकी होगी।

मैं और परमात्मा—दोनों को ज्ञाननेत्र तो हैं; इसलिये मैं अपने परम निधान अनंतगुण सम्पन्न आत्मा को परमात्मा के स्वरूप की प्राप्ति के हेतु ही जानने की, स्वानुभव की भावना, चिन्तन और एकाग्रता का अभ्यास करता हूँ—ऐसा विवेकीजन विचार करते हैं।

अध्यात्मपद

[आत्मार्थी-सरदार शहर]

द्रव्य बना है, भाव बना है, करना भी साथ बना है।

बनेरे बनाये जड़ चेतन में, अन्य क्या करने जावे रे॥

ज्ञानेश्वर द्रव्य बना है० ॥१॥

इच्छा माफिक विश्व करन की, बेहद हाय मचावे।

कौन सुने झूठे क्रन्दन को, वृथा ही कूक मचावे॥

ज्ञानेश्वर द्रव्य बना है० ॥२॥

करण योग की लाय लगी है, किस विधि शान्ति आवे।

अन्य द्रव्य तो बाहर लौटे, अड़ने नहिं कोई पावे॥

ज्ञानेश्वर द्रव्य बना है० ॥३॥

श्रद्धा, ज्ञान उपयोग पलटते णमो अरिहंत ध्यावे।

पुद्गल से उपयोग हटते ही, सिद्ध प्रभु अपनावे।

ज्ञानेश्वर द्रव्य बना है० ॥४॥

मन से गुप्त, वचन से गुप्त, काया से गुप्त ही पावे।

गुप्त गुफा में जाए बिराजे, निर्भय आनंद पावे॥

ज्ञानेश्वर द्रव्य बना है० ॥५॥

परद्रव्य से अत्यंत विभक्तता साधने के लिये भेदज्ञानी धर्मात्मा का अभ्यास

[शुद्धोपयोग की भावना से भरपूर और वीतरागी माध्यस्थभाव से
ओतप्रोत पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

[प्रवचनसार गाथा १५९-१६०]

आत्मा उपयोगस्वरूप है; उसका जो उपयोग राग से रंजित है, अशुद्ध है, (फिर भले ही वह अशुभ हो या शुभ हो)—वह बन्ध का कारण है। उस अशुद्ध उपयोग का विनाश कैसे हो, उसकी यह बात है। शुद्धोपयोग द्वारा ज्ञानस्वरूप आत्मा की भावना से अशुद्धता का नाश होता है। इसप्रकार शुद्धोपयोग, वह बंध के नाश का साधन है। भेदज्ञानी जीव शुद्धोपयोग का अभ्यास किसप्रकार करता है, सो बतलाते हैं:—

अशुभोपयोगरहितः शुभोपयुक्तो न अन्य द्रव्ये।

भवन्मध्यस्थोऽहं ज्ञानात्मकमात्मकं ध्यायामि॥१५९॥

वन-जंगल में पूर्णानंद शुद्धस्वभाव को राग से अत्यन्त भिन्न साधकर जिन्होंने चैतन्यशक्ति के ताले खोल दिये हैं, चैतन्य के भंडार में से आनंद के निधान बाहर निकले हैं—ऐसे संत कहते हैं कि अहो ! अपने चैतन्यस्वरूप को ध्याता हुआ मैं समस्त परद्रव्यों के प्रति अत्यन्त मध्यस्थ होता हूँ; अशुभ की बात तो दूर रही, शुभ में भी युक्त नहीं होता, शुभ भी परद्रव्य के अनुसरण से ही होता है। मैं तो परद्रव्य के प्रति मध्यस्थ होकर एक स्वद्रव्य का ही अनुसरण करता हूँ। स्वद्रव्य के अनुसार परिणमित होने से शुद्धोपयोग होता है। ऐसा शुद्धोपयोगी होकर मैं अपने उपयोगस्वरूप आत्मा में ही निश्चल रहता हूँ। यह मेरा परद्रव्य के संयोग के कारण के विनाश का अभ्यास है, यही मोक्ष का प्रयत्न है।

भाई, तुझे शुद्धता प्रगट करना हो तो तू अंतर्मुख होकर अपने आत्मा का ही अनुसरण कर परद्रव्य का अनुसरण न कर। उपयोग जब स्वद्रव्य का आश्रय छोड़कर परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन होता है, तभी वह मलिन होता है, अन्य किसी कारण से नहीं। इसलिये शुद्धोपयोग के हेतु मुमुक्षु को समस्त परद्रव्यों का आश्रय छोड़कर एक स्वद्रव्य का आश्रय करना चाहिये। समस्त परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थता कब होती है?—कि जब स्वद्रव्योन्मुख हो तब। अभी जिसे पर से भिन्नता का अभिप्राय नहीं है, राग से भिन्नता का भान नहीं है, पर की क्रिया से तथा राग से लाभ

मानता है, उसे उनके प्रति मध्यस्थता कैसे होगी ? जिनसे लाभ माने, उनसे विमुख कैसे होगा ? उनका पक्षपात कैसे छोड़ेगा ? यहाँ तो, जिसने पर से भिन्नता का भान किया, राग से परे चैतन्य की प्रतीति की है, वह धर्मात्मा अब सम्पूर्ण वीतरागता के लिये कैसा पुरुषार्थ करता है ?—उसकी बात है। जगत के समस्त पदार्थ—निन्दा के शब्द या साक्षात् दिव्यध्वनि, सिद्धपरमात्मा या निगोद, परमेश्वर या परमाणु—वे समस्त परद्रव्य मुझसे अत्यंत भिन्न हैं; उनके प्रति अत्यंत मध्यस्थ होकर मैं उपयोगस्वरूप अपने आत्मा का ही अवलंबन करता हूँ।—इसप्रकार स्वद्रव्य के अवलंबन में अशुद्ध उपयोग का नाश होता है, इसलिये परद्रव्य का संग नहीं होता, आत्मा अकेला शुद्धरूप से—मुक्तरूप से शोभायमान होता है। परद्रव्य से अत्यन्त विभक्तता (अर्थात् मोक्ष) साधने की यह रीति है।

अहो, प्रथम तो अंतर में से विश्वास की ऐसी ध्वनि उठना चाहिये कि—मुझे अपने स्वद्रव्य के अवलंबन से ही लाभ है। मेरे ज्ञान और आनंद के संपूर्ण निधान स्वद्रव्य में ही हैं। इसके अतिरिक्त किसी भी परद्रव्य का अनुसरण करने से मुझे लाभ नहीं है। ऐसी विश्वास की ध्वनि आये और स्वज्ञेय की अचिंत्य महिमा भासित हो तो उपयोग स्वद्रव्योन्मुख हो और शुद्धता हो। इसके अतिरिक्त अन्य लाखों प्रयत्न करने से भी शुद्धता नहीं होती और शुद्धता हुए बिना परद्रव्य का संग नहीं छूटता तथा जन्म-मरण का अंत नहीं आता।

आचार्यदेव कहते हैं कि मैं पर के प्रति मध्यस्थ होकर स्वद्रव्य में लीन होता हूँ। पर के प्रति मध्यस्थ होता हूँ अर्थात् उस ओर से अपने उपयोग को मोड़ता हूँ और स्वद्रव्य की ओर ढलता हूँ; उसमें अपने उपयोग को एकाग्र करके निश्चल रहता हूँ। उपयोग द्वारा ज्ञानानंदस्वरूप निजात्मा को ही ध्याता हूँ। यह लिखते समय तो विकल्प है किंतु अंतर में शुद्धोपयोग की भावना का जोर है, विकल्प की ओर उपयोग का किंचित् जोर नहीं है, उपयोग का जोर तो स्वभाव की ओर ही है; दूसरे ही क्षण विकल्प तोड़कर उपयोग अंतरस्वरूप में स्थिर हो जाता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि—हम ऐसा करते हैं; उपयोग को अंतरोन्मुख करके आत्मा को ध्याते हैं, इसलिये हे जीवो ! तुम भी इसीप्रकार करो ! तुम भी उपयोग को अंतरोन्मुख करके आत्मा को ध्याओ और परद्रव्य के प्रति मध्यस्थ होओ। देखो, यह मोक्ष के हेतु धर्मात्मा का अभ्यास ! कैसा अभ्यास करना चाहिये ?—तो कहते हैं कि परद्रव्य के प्रति अत्यंत मध्यस्थ होकर स्वद्रव्य में उपयोग को निश्चल करने का अभ्यास करना चाहिये; यह अभ्यास ही मोक्ष का कारण है, वही कर्म के अभाव का कारण है।

जिससे तीर्थंकर प्रकृति आदि कर्मों का बंध हो, ऐसे भाव का अभ्यास या भावना धर्मी को नहीं है; धर्मी को तो चैतन्य में लीन होकर शुद्धोपयोग प्रगट करने का अभ्यास और भावना है; उसी से समस्त कर्मबंध का छेदन होता है। जिससे कर्मबंध हो, उसकी भावना धर्मी को क्यों होगी?—नहीं हो सकती। उपयोग यदि परद्रव्य का अनुसरण करे तो उसमें अशुद्धता होती है और कर्मबंध होता है, और यदि सवद्रव्य का अनुसरण करे तो उसमें शुद्धता होती है और कर्मबंध छूट जाता है। इसलिये भगवान के आगम का (प्रवचन का) यह सार है कि स्वद्रव्य का अनुसरण करना चाहिये। पर से अत्यन्त भिन्न जानकर उपयोगस्वरूप निज आत्मा का ही अवलंबन करना चाहिये। यह कल्याण का पंथ है। चारों अनुयोगों का यह सार है। इसलिये हे भव्य! चारों अनुयोगों के प्रवचन में से तू यही सार निकालना।

ज्ञानस्वरूप आत्मा को स्वज्ञेय बनाकर, शुद्धोपयोग द्वारा उसमें निश्चल रहनेवाला धर्मात्मा परद्रव्यों के प्रति अत्यंत मध्यस्थ है, उसका यह वर्णन है।

हुँ देह नहि, वाणी न, मन नहि, तेमनुं कारण नहीं,

कर्ता न, कारयिता न, अनुमंता हुं कर्तानो नहीं ॥१६०॥

मेरा ज्ञानस्वरूप आत्मा ही मेरा स्वज्ञेय है; शरीर, वाणी या मन मेरे स्वज्ञेय नहीं हैं, वे परज्ञेय हैं; वे परद्रव्य होने से उनके प्रति मुझे किंचित् पक्षपात नहीं है, उनके प्रति मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

अहा, देखो तो यह भेदज्ञान की अपूर्व भावना! यह भावना भाने योग्य है। ज्ञानस्वभावोन्मुख की यह भावना भव का नाश करनेवाली है।

शरीरादि परद्रव्यों की क्रिया में मेरा किंचित् कारणपना नहीं है। शरीर, वाणी या मन के स्वरूप आधार अचेतनद्रव्य है, मैं उनका किंचित्मात्र आधार नहीं हूँ। मेरे आधार के बिना ही वे अपने स्वरूप से वर्त रहे हैं। वाणी बोली जाती है, वह अचेतन द्रव्य के आधार से बोली जाती है, मेरे आधार से नहीं बोली जाती; मेरे आधार के बिना ही वह उसके अपने स्वरूप से वर्तती है। 'मैं व्यवहार से तो उसका कर्ता हूँ न?'—ऐसा जिसे पक्षपात है, उसे परद्रव्य के प्रति मध्यस्थता नहीं होती, उसे रागादि विभाव की उपेक्षा नहीं होती।

धर्मी तो जानता है कि मैं ज्ञान हूँ, मेरे ज्ञान का और पर का कोई संबंध नहीं है—दोनों में अत्यन्त भिन्नता है। इसलिए परद्रव्य का पक्षपात छोड़कर मैं तो अपने ज्ञानस्वरूप में ही ढलता हूँ—इसप्रकार मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

अरे भाई, एक बार तू यह बात लक्ष में तो ले! दूसरा पक्ष छोड़कर यह बात लक्ष में ले। इन

निकटस्थ शरीर, मन या वाणी का आधार भी तू नहीं है; वे तेरे आधार के बिना ही निजस्वरूप से कार्य कर रहे हैं, तो जगत के अन्य पदार्थों की बात ही क्या! छोड़ उनका पक्षपात! हो अत्यन्त मध्यस्थ! परपक्ष छोड़कर ज्ञान का लक्ष कर..! शरीरादि अचेतन और मैं ज्ञानमूर्ति चेतन;—उन अचेतन पदार्थों की क्रिया का आधार मैं कैसे होऊँ? आधाररूप से, कर्तारूप से, प्रयोजकरूप से या अनुमोदकरूप से परद्रव्य के कार्य के साथ मुझे किंचित् संबंध नहीं है; उनके साथ मेरा कोई लेनदेन नहीं है, इसलिये उनका पक्षपात छोड़कर अत्यंत मध्यस्वरूप से मैं अपने में ही रहता हूँ।—इसप्रकार जिसे पर के कार्यों की दृष्टि अत्यंत उड़ जाये, वह स्व के कार्य को सम्हाल सकता है। परंतु जहाँ पर के कार्यों का अभिमान और उसमें एकत्वबुद्धि हो, वहाँ स्वोन्मुख कहाँ से होगा? जिसने स्वज्ञेय और परज्ञेय की अत्यंत भिन्नता नहीं जानी, वह परज्ञेय से निरपेक्ष होकर स्वज्ञेय में कहाँ से आयेगा?

भेदज्ञान द्वारा स्व-परज्ञेय का अत्यंत विभाजन करके ज्ञानी जानता है कि शरीरादि के कार्यों का कारण अचेतन द्रव्य है, मैं उनका कारण नहीं हूँ; मेरे कारणपने के बिना ही वे स्वयं सचमुच कारणवान हैं। शरीर की क्रिया जीव के कारण बिना होती है?—तो कहते हैं कि हाँ, जीव कारण हुए बिना ही वे अचेतन द्रव्य सचमुच कारणवान हैं। तो फिर मैं उनका पक्ष क्यों लूँगा?—मैं तो अत्यंत मध्यस्थ हूँ। मेरी और उनकी दशा के बीच अत्यंत भेद है, अत्यंत भिन्नता है, अत्यंत निरपेक्षता है। इसलिये अपने स्वज्ञेय का ही अवलंबन लेता हुआ मैं इन परद्रव्यों के प्रति अत्यंत मध्यस्थ हूँ; उनके प्रति मुझे किंचित् राग या द्वेष नहीं है। यह ज्ञेय ऐसा परिणमित हो तो अच्छा, और ऐसा परिणमित हो तो बुरा, अथवा मैं किंचित् कारण होकर (निमित्त होकर) उन्हें परिणमित करूँ—ऐसा बिल्कुल पक्षपात मुझे नहीं है। मैं तो ज्ञाता होकर मध्यस्थ रहता हूँ।

अहा, देखो तो... यह मध्यस्थ भावना! ज्ञानस्वभावोन्मुख की यह भावना भव का नाश करनेवाली है; पुनः शरीरादि परद्रव्यों का संयोग ही न हो तो भवभ्रमण ही न रहे—ऐसी भेदज्ञान की अपूर्व भावना है। यह भावना भाने योग्य है। यह भावना करते ही ज्ञानस्वभाव के आश्रय से एकदम हलका हो जाता है, आकुलता का बोझ मिट जाता है।

‘यदि पर का पक्षपात करूँगा तो मैं अपने ज्ञान जीवन को खो बैटूँगा’ मैं तो ज्ञान हूँ, मेरा कारणपना तो मेरे ज्ञानभाव में ही है, पर मैं कहीं मेरा कारणपना नहीं है—ऐसा भेदज्ञान करके ज्ञानस्वभाव की ओर ढलने के बदले जिसके अभिप्राय में ऐसा जोर आये कि ‘मैं निमित्त कारण तो हूँ न? व्यवहार से तो पर का कारण हूँ न?’—उसके अभिप्राय में पर का पक्षपात है, उसे अभी

परद्रव्य के अभिमान के घूरे पर से नहीं हटना है, उसे मध्यस्थ ज्ञाता नहीं रहना है, किंतु अभी परोन्मुख होकर उसका निमित्त कर्ता बनना है। अरे मूढ़ ! तू अपने ज्ञानस्वभाव की भावना में रह और पर का निमित्त बनने की भावना छोड़ ! स्व-परज्ञेयों को अत्यंत भिन्न जानकर स्वज्ञेय की ओर उन्मुख हो ! भाई, उसी में मध्यस्थता और वीतरागता है।

शरीर चले या वाणी बोली जाये, उसका कर्ता अचेतन द्रव्य है, आत्मा कहीं उनका कर्ता नहीं है। आत्मा कर्ता हुए बिना ही, अचेतन द्वारा ही वे कार्य किये जाते हैं। अज्ञानी कहता है कि क्या मेरे बिना हो सकता है ? क्या आत्मा के बिना बोला जा सकता है ?—हाँ भाई, आत्मा कर्ता हुए बिना ही वाणी बोली जाती है, आत्मा कर्ता हुए बिना ही जगत् के कार्य होते हैं; इसलिये परद्रव्य के कर्तृत्व की बुद्धि छोड़, उसका पक्षपात छोड़, उससे भिन्न ऐसे ज्ञान स्वभाव में ढलकर मध्यस्थ हो। यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य धर्म की रीति है, यही सत्य का मार्ग है।

मैं पर का आधार, मैं शरीरादि की क्रिया का कारण—इसप्रकार अज्ञानदशा में जो पक्षपात था, वह धर्मात्मा ने भेदज्ञान द्वारा छोड़ दिया है और साक्षात् अकर्ता साक्षी ऐसे ज्ञानस्वभाव का स्वसंवेदन करके अत्यंत मध्यस्थता प्रगट की है।

आत्मा शरीर का कर्ता होने से सर्वथा विरोध है।

गाथा १६२ की टीका के अंत में आचार्यदेव स्पष्ट कहते हैं कि—अनेक परमाणु द्रव्यों के एक पिण्ड-पर्यायरूप परिणाम का अकर्ता ऐसा मैं, अनेक परमाणु द्रव्यों के एक पिण्ड पर्यायरूप परिणामात्मक शरीर का कर्तारूप होने में सर्वथा विरोध है।

देखो, आचार्यदेव कहते हैं कि—आत्मा शरीरादि का कर्ता होने में सर्वथा विरोध है, किंतु ऐसा नहीं है कि कथंचित् (व्यवहार से) कर्तृत्व भी है। जिसप्रकार शरीर की बात कही, उसीप्रकार मन-वाणी आदि समस्त परद्रव्यों की क्रिया में भी आत्मा कर्ता होने में सर्वथा विरोध है और जिसप्रकार कर्ता होने में विरोध है, उसीप्रकार उसका आधार होने में भी सर्वथा विरोध है। उसका कारण होने में सर्वथा विरोध है। और प्रेरक-प्रयोजक या अनुमोदक होने में भी सर्वथा विरोध है। जिसप्रकार पुद्गलमय परद्रव्य वह आत्मा होने में सर्वथा विरोध है, उसीप्रकार पुद्गल के कार्यों का कर्तृत्व आत्मा में होने का भी सर्वथा विरोध है, आत्मा उसका सर्वथा अकर्ता है।

—भाई, तू तो ज्ञानतत्त्व है।

—ज्ञानतत्त्व स्व-पर का ज्ञाता होने में कोई विरोध नहीं है।

—परंतु ज्ञानतत्त्व पर का कुछ भी करे, उसमें सर्वथा विरोध है।

—ज्ञान पर का करे, ऐसा व्यवहार नहीं है, किंतु ज्ञान पर को जाने—ऐसा व्यवहार है।

—कर्तृत्व को तो एकदम उड़ा दिया।

—ऐसा अत्यंत भेदज्ञान करके परद्रव्य का पक्षपात छोड़ दे....

—ज्ञान को अंतरोन्मुख-स्वज्ञेयोन्मुख करके अत्यंत मध्यस्थ हो।

अरे जीव! तेरा ज्ञानतत्त्व पर के भाररहित हलका वीतरागी है, उसमें पर की मिथ्या कर्तृत्वबुद्धि से पर का भार किसलिये बढ़ाता है? ज्ञान में रहकर अत्यंत मध्यस्थ हो, अपने उपयोग को राग से भी पृथक् करके शुद्ध कर। शुद्ध उपयोग ही परद्रव्य के संग का अकारण है, अर्थात् मोक्ष का कारण है।

शरीर और आत्मा में एक आकाश क्षेत्रावगाहरूप घनिष्ठ संबंध कहा है, तथापि कर्तृत्व का संबंध तो किंचित्मात्र नहीं है। आत्मा शरीर के कार्यों को करे—ऐसा किंचित् संबंध होने में अत्यंत विरोध है। 'संबंध' तो कहा है न?—परंतु कहीं एकता तो नहीं है न?—किंचित् एकता नहीं है और अत्यंत भिन्नता है, इसलिये देहादि पर के साथ किंचित् भी कर्तृत्व, कारणत्व अथवा आधारत्व नहीं है;—ऐसा धर्मात्मा जानता है; इसलिये वह किसी परद्रव्य के कार्य का अनुमोदक भी नहीं है और प्रयोजक भी नहीं है। ज्ञानी तो सहज शुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव के स्वसंवेदनमय अपने को अनुभव करता है। आत्मा अनुमोदक हुए बिना ही शरीरादि के कार्य तो स्वयं होते ही हैं। 'यह कार्य ऐसा हो तो ठीक'—ऐसी जीव की अनुमोदना न हो, तथापि जगत के पदार्थ तो स्वयं अपने-अपने कार्य को कर ही रहे हैं। इसलिये आत्मा सचमुच परद्रव्य के कार्य का अनुमोदक नहीं है।

अरे जीवो, यदि ज्ञानी को परद्रव्य के कर्तारूप से या अनुमोदकरूप से देखोगे तो उसकी पहिचान में तुम्हारी भूल होगी... तुम भ्रम में पड़ोगे। इस प्रवचनसार शास्त्र के शब्दों की रचना हो रही है या वाणी बोली जा रही है; इसलिये हम (आचार्य) उसके कर्ता होंगे या जड़ की क्रिया के अनुमोदक होंगे—ऐसा यदि मानोगे तो हमारे प्रति अन्याय होगा, हमें पहिचानने में तुम्हारी भूल होगी। इसलिये भ्रांति में मत पड़ना। हम तो आत्मा हैं, हमारी संमति-हमारी अनुमोदना तो चिदानंद स्वभाव में ही है। उससे भिन्न समस्त परद्रव्यों के प्रति हम अत्यंत अकर्ता हैं, उनका किंचित्मात्र कर्तृत्व, कारणत्व, अनुमोदकत्व हमारे नहीं है—एक राई भर भी नहीं है।

वाह! देखो तो संतों की दशा! वन में बैठे-बैठे जड़-चेतन की अत्यंत भिन्नता करके ज्ञानस्वभाव में लीन होकर अत्यंत मध्यस्थ हुए हैं। ऐसी मध्यस्थता, वह सर्व प्रवचन का सार है।

उपादान-निमित्त विचार

श्री 'युगल'जी, एम.ए., साहित्यरत्न, कोटा

उपादान और निमित्त वस्तुतः किसी एक या पृथक्-पृथक् पदार्थों के कोई स्थायी नाम नहीं हैं, किंतु अभिप्राय विशेष से प्रदत्त दो संज्ञाएँ हैं। विश्व के सभी पदार्थों पर यह नियम लागू होता है। विश्व के सभी पदार्थ अपनी-अपनी स्वाधीन सीमा के अंतर्गत रहते हुए भी परस्पर पृथक्-पृथक् निमित्त-उपादानभाव की सहज शृंखला में आबद्ध हैं। यथा—

अनंतर पूर्व पर्याय विशिष्ट प्रत्येक द्रव्य को उपादान कहते हैं (अष्टसहस्री टिप्पण पृष्ठ २११) और उपादान से होनेवाले कार्यों के साथ उससे भिन्न एक या एक से अधिक अन्य जिन पदार्थों की बाह्य व्याप्ति होती है, उन्हें निमित्त कहते हैं। तात्पर्य यह है कि विवक्षित कार्य के साथ जिसकी अन्तर्व्याप्ति होती है, उसकी उपादान संज्ञा है और जिसकी बाह्य व्याप्ति होती है, उसमें निमित्त व्यवहार होता है (समयसार गाथा ८४ आत्मख्याति टीका)। ऐसा वस्तुस्वभाव है कि प्रत्येक कार्य में बाह्य आभ्यंतर उपाधि की समग्रता होती है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य समंतभद्र स्वयंभूस्तोत्र में कहते हैं—

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।

नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम्॥६०॥

कार्यों में जो यह बाह्य और आत्यंतर उपाधि की समग्रता है, वह आपके मत में द्रव्यगत स्वभाव है। इसे यदि द्रव्यगत स्वभाव नहीं माना जाये तो जीवों की मोक्षविधि नहीं बनती। ऐसे अपूर्व तत्त्व का उद्घाटन करने के कारण ही ऋषि अवस्था को प्राप्त हुए आप बुधजनों के द्वारा अभिवंद्य हैं ॥६०॥

यह कार्य-कारणपरंपरा के अनुरूप वस्तुव्यवस्था है। आगे इसी विषय को उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं। जब कोई छात्र अध्ययन करता है तो कभी विशिष्ट क्रियायुक्त दूसरा व्यक्ति (जिसे लोक में अध्यापक कहते हैं)। पुस्तक और प्रकाश आदि का उसे सानिध्य होता है और कभी इनमें से किसी एक का और प्रदीप आदि अन्य किसी का सानिध्य होता है। यहाँ छात्र का अध्ययन यह कार्य है, जो उसके ज्ञानगुण की विशिष्ट अवस्था (पर्याय) है, इसलिये विवक्षित योग्यता-सम्पन्न

वह ज्ञानगुण उस कार्य का उपादान है, क्योंकि अध्ययनरूप कार्य की विवक्षित योग्यता सम्पन्न ज्ञानगुण के साथ अन्तर्व्याप्ति है तथा विशिष्ट क्रियायुक्त दूसरा व्यक्ति आदि निमित्त हैं, क्योंकि अध्ययनरूप कार्य की उन विशिष्ट क्रियायुक्त मनुष्य आदि के साथ बाह्य व्याप्ति है।

अब प्रकृत में विचार यह करना है कि यह जो छात्र का अध्ययन कार्य हुआ है, उसका यथार्थ कारण क्या है ? विशिष्ट क्रियायुक्त मनुष्य तो उसका यथार्थ कारण हो नहीं सकता, क्योंकि उसके अभाव में भी अध्ययन देखा जाता है या उसके सद्भाव में भी अध्ययनरूप कार्य नहीं देखा जाता। यही बात प्रकाश आदि पर भी लागू होती है। इतना अवश्य है कि जब-जब छात्र अध्ययन करता है, तब-तब इन सबका या इनमें से किसी एक का सानिध्य अवश्य होता है। यही कारण है कि कार्य-कारणपरम्परा के विशारदों ने विवक्षित कार्य में विशिष्ट अवस्थायुक्त बाह्य सामग्री के सद्भाव को स्वीकार करके भी उसे यथार्थ कारण नहीं कहा। किंतु ऐसा अनियम विशिष्ट योग्यतासम्पन्न ज्ञानगुण पर लागू नहीं होता, क्योंकि यदि उस छात्र को विशिष्ट योग्यतासम्पन्न ज्ञानगुण प्राप्त न हो तो विशिष्ट क्रियायुक्त इतर मनुष्य आदि का सानिध्य होने पर भी उसका अध्ययन कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता, इसलिये मानना होगा कि उस छात्र के अध्ययनरूप कार्य का विशिष्ट योग्यतासम्पन्न ज्ञानगुण ही यथार्थ कारण है, अन्य नहीं।

यहाँ कोई तर्क करेगा कि यद्यपि हम यह मान लेते हैं कि कार्य की उत्पत्ति में उपादान कारण का होना आवश्यक है, क्योंकि वह स्वयं कार्यरूप परिणत होता है और इसलिये उसे यथार्थ कारण कहना भी संगत है। पर बाह्य सामग्री के (जिसमें निमित्त का व्यवहार होता है) न होने पर भी तो कार्य नहीं होता, इसलिये जिस बाह्य सामग्री के सद्भाव में उपादानरूप अन्य द्रव्य में विवक्षित कार्य हुआ है, उसे भी तो यथार्थ कारण कहना चाहिये। उसे यथार्थ कारण मानने में हिचक कैसी ?

समाधान यह है कि जिस बाह्य सामग्री के सद्भाव में विवक्षित कार्य होता है, वह स्वयं तो उस कार्यरूप व्यापार करती नहीं। किंतु जब अन्य द्रव्य में विवक्षित कार्य होता है, तब उससे भिन्न बाह्य सामग्री अपना दूसरा कार्य करती है। जैसे जब छात्र श्रवण कार्य करता है, तब अध्यापक सुनाने की इच्छा तथा वचन-कायरूप चेष्टा करता है। ऐसा तो है नहीं कि छात्र और अध्यापक दोनों ही मिलकर एक द्रव्यगत श्रवणरूप व्यापार में उपयुक्त होते हों। यही कारण है कि प्रकृत में अध्यापक के सुनाने की इच्छा आदि को यथार्थ कारण न कहकर निमित्त (उपचरित) कारण कहा है। विवक्षित बाह्य सामग्री के सद्भाव में या उसे लक्ष्य कर वह कार्य हुआ, इसलिये तो उसे

निमित्तरूप से कारण कहा गया, पर वह स्वयं उस कार्यरूप परिणत नहीं हुआ, इसलिये उसमें वह कारणता उपचरित मानी गयी। इसी का नाम असद्भूतव्यवहार है। विवक्षित कार्य होते समय ऐसा व्यवहार तो अवश्य होता है, पर वह निश्चयस्वरूप (उपादन-उपादेयरूप) न होने के कारण असद्भूत ही होता है।

अब प्रश्न यह है कि यह व्यवहार असद्भूत ही सही, पर यदि ऐसा व्यवहार न हो तो क्या निश्चयस्वरूप उपादानकारण उपादेयरूप (कार्यरूप) परिणत हो सकता है। यदि नहीं, तो ऐसे व्यवहार को भी यथार्थ कारण क्यों नहीं माना जाता। उदाहरणार्थ माना कि समुद्र स्वयं लहररूप परिणत होता है। किंतु उसका यह कार्य विशिष्ट वायु का योग मिलने पर ही होता है। जब-जब समुद्र को विशिष्ट वायु का योग मिलता है, तब-तब समुद्र तरंगरूप से परिणत होता है और जब वायु का योग नहीं मिलता, तब उसका तरंगरूप कार्य भी नहीं देखा जाता। अतः कार्य की उत्पत्ति में जैसे उपादान का होना आवश्यक है, उसीप्रकार निमित्त का योग मिलना भी आवश्यक है। इसलिये जैसे यह माना जाता है कि यदि उपादानकारण न हो तो कार्य नहीं होता, वैसे यह मानना भी उपयुक्त है कि यदि निमित्तकारण न मिले तो भी कार्य नहीं होता। इसलिये जिसप्रकार कार्य की उत्पत्ति में उपादानकारण मुख्य है, उसीप्रकार उसमें निमित्तकारण को भी मुख्यता मिलनी चाहिये। कार्य में दोनों की मुख्यता है, इस विषय को स्पष्ट करते हुए श्री हरिवंशपुराण में कहा है—

सर्वेषामेव भावानां परिणामादिवृत्तयः।

स्वान्तर्बहिः निमित्तेभ्यः प्रवर्तन्ते समन्ततः॥सर्ग ७, श्लोक ५॥

सभी पदार्थों के परिणाम आदि वृत्तियाँ अपने अंतरंग निमित्त (उपादान) और बहिरंग निमित्तों से सब प्रकार से प्रवर्तित होती हैं ॥७-५॥

तात्पर्य यह है कि कोई कार्य हो और उसका निमित्त न हो, ऐसा तो है नहीं। अतएव प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के कारणों से माननी चाहिये। यदि इनमें से एक भी कारण न हो तो कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे समुद्र में जल तो है, पर उसे जब तक वायु का योग नहीं मिलता, तब तक तरंगे नहीं उठतीं या वायु का योग तो है, पर शीत का योग पाकर समुद्र का जल यदि बर्फ बन गया है तो भी तरंगें नहीं उठतीं। स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्य तभी होता है, जब दोनों कारणों का योग होता है, किसी एक के अभाव में नहीं; अतः प्रत्येक कार्य के प्रति दोनों कारणों की मुख्यता है, किसी एक की नहीं।

समाधान यह है कि प्रत्येक कार्य प्रत्येक द्रव्य की एक पर्याय है। अतः जैन सिद्धांत के नियमानुसार जिस द्रव्य की जो पर्याय होती है, वह उसी का कार्य होता है। तत्त्वार्थसूत्र में इसी तथ्य को ध्यान में रखकर 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत् ॥२९॥ सद्द्रव्यलक्षणम् ॥३०॥' इन सूत्रों की रचना हुई है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में कहते हैं—

अपरिच्छत्तसहावेणुप्पाद-व्यय-ध्रुवत्तसंजुत्तं ।

गुणवं च सपज्जायं तं दव्वं ति वुच्चंति॥

जो अपने स्वभाव को न छोड़कर उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व से संयुक्त है तथा गुण-पर्यायवाला है, उसे द्रव्य कहते हैं।

यह प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप है। इसके अनुसार प्रत्येक द्रव्य का कार्य उसकी पर्यायरूप ही होता है, अन्य द्रव्य की पर्यायरूप नहीं। अतः प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में जिनके साथ उसकी बाह्य व्याप्ति है, ऐसे अन्य एक या एक से अधिक द्रव्यों की पर्यायों में निमित्त व्यवहार होने पर भी यथार्थ में उनसे उस कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, यह सिद्ध होता है। स्वामी समन्तभद्र ने इसी तथ्य को ध्यान में रखकर यह वचन कहा है कि 'सब कार्यों में बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि की समग्रता होती है, यह द्रव्यगत स्वभाव है।' यहाँ आचार्य समन्तभद्र के इसे द्रव्यगत स्वभाव कहने का आशय यह है कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में परिणमनशील है। अतः उसका प्रत्येक समय में स्वभावरूप या विभावरूप कोई न कोई परिणाम अवश्य होता है। ऐसा तो है नहीं कि द्रव्य के परिणमनशील होने पर भी जिस समय निमित्त नहीं मिलते, उस समय उसका परिणाम रुक जाता हो। उत्पाद-व्यय के सिद्धान्तानुसार द्रव्य प्रत्येक समय में परिणमन भी करता है और प्रत्येक समय जब जब एक परिणाम का व्यय करके जिस दूसरे परिणाम को वह उत्पन्न करता है, तब-तब उस परिणाम के साथ उसकी अन्तर्व्याप्ति भी रहती है। यह अन्तर्व्याप्ति का नियम है। बाह्य व्याप्ति का नियम भी इसी प्रकार है। अर्थात् प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक समय में जब-जब परिणमनरूप जो कार्य होता है, तब-तब अन्य एक या एक से अधिक दो आदि द्रव्यों की जिन पर्यायों के साथ उस कार्य की बाह्य व्याप्ति होती है, वे पर्यायें भी उस समय अवश्य होती हैं। कार्य के साथ अन्तर्व्याप्ति और बाह्य व्याप्ति के स्वीकार करने का यही तात्पर्य है। इन दोनों के एक काल में होने का नियम है और यह तभी बन सकता है, जब इसे द्रव्यगत स्वभाव स्वीकार किया जाये। इसलिए किसी एक द्रव्य का कार्य उससे भिन्न दूसरे द्रव्य से होता है, यह तो त्रिकाल में माना नहीं जा सकता। यही कारण है कि प्रत्येक द्रव्य

के प्रत्येक कार्य में असद्भूत व्यवहारनय से निमित्त को स्वीकार करके भी उसे उपचरित कारण ही स्वीकार किया है, यथार्थ कारण नहीं।

अब प्रश्न यह है कि यह तो आबाल-वृद्ध प्रत्येक व्यक्ति को स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि बाह्य सामग्री का योग मिलने पर कार्य अवश्य होता है और नहीं मिलने पर नहीं होता। जैसे मिट्टी को कुम्भकार आदि का योग मिलने पर घट अवश्य बनता है और ऐसा योग नहीं मिलने पर नहीं बनता। ऐसी सब मिट्टी समान है। जिसमें से किसी भी मिट्टी से कभी भी घट बनाया जा सकता है। किंतु मिट्टी में घट के लिये व्यापार करते हुए यदि कुम्भकार अपना व्यापार रोक देता है तो वह घट बनने का कार्य अधूरा रह जाता है और यदि उस मिट्टी में घट बनाने के अनुरूप वह व्यापार करता रहता है तो उसमें से घट कार्य भी निष्पन्न हो जाता है, अतः घट के साथ मिट्टी की अन्तर्व्याप्ति के रहने पर भी जिस एक या एक से अधिक कारणों के साथ उसकी (घट की) बाह्य व्याप्ति है, ऐसे कुम्भकार आदि के व्यापार को ही कारणरूप से प्रमुखता मिलनी चाहिये। यथार्थ में कार्य की उत्पादक बाह्य सामग्री ही होती है, उपादान सामग्री नहीं। उपादान का ग्रहण तो केवल इसलिये किया जाता है कि कार्य की उत्पत्ति उसमें होती है। उसके ग्रहण का यह तात्पर्य नहीं कि वह अपने कार्य को स्वयं करता है।

यह भी एक प्रश्न है। समाधान यह है कि प्रश्नकर्ता ने वस्तुतः उपादान और निमित्त के यथार्थ अर्थ को न समझ कर ही यह प्रश्न किया है। हम आगम के अनुसार यह पूर्व में ही लिख आये हैं कि जिसमें उत्तर काल में विवक्षित कार्य होता है, मात्र उसका नाम उपादान नहीं है। किंतु विवक्षित कार्य के पूर्व समय में स्थित विशिष्ट पर्याययुक्त द्रव्य का नाम उपादानकारण है। अब विचार कीजिए कि जिस मिट्टी से उत्तर काल में घट बननेवाला है, वह खेत में पड़ी हुई मिट्टी क्या घट का उपादान कारण है? उपादान के उक्त लक्षण के अनुसार यदि वह वास्तव में घट का उपादान है तो अगले समय में ही उससे घट कार्य हो जाना चाहिये। परंतु ऐसा तो होता नहीं। किंतु मध्य के काल में असंख्यात पर्यायों (कार्य) होने के बाद ही उससे घट कार्य निष्पन्न होता है। अतः जिस समय में उससे घट कार्य निष्पन्न हुआ, उसके अनुसार पूर्व समय में ही उसे घट का उपादान मानना युक्ति और आगम दोनों से सम्मत है। केवल अपनी तर्कणा के आधार पर जिस मिट्टी से घट बना, उसके समान प्रतीत होनेवाली सब मिट्टी को घट का उपादान कारण मानना उचित नहीं है।

यह तो उपादान का विचार है। अब निमित्त का विचार कीजिए। कुम्भकार विवक्षित मिट्टी

से घट बनाना चाहता है। उसके लिये वह व्यापार भी करता है। किंतु प्रथम समय में वह मिट्टी घट नहीं बनती। दूसरे समय में भी वह घट नहीं बनती। कुम्भकार का व्यापार घट बनाने के लिये बराबर चालू है, पर उसके घट पर्याय के लिये व्यापार करने पर भी असंख्यात समय तक वह मिट्टी घट नहीं बनती। घट उत्पन्न करने के लिये कुम्भकार कितना ही जोर (बल) क्यों न लगावे, तथापि मिट्टी से घट पर्याय तक होनेवाली अपनी सब पर्यायों में से गुजरने के पहले वह मिट्टी घट नहीं बनती। इस काल में कुम्भकार का जितना भी व्यापार है, वह सब एकमात्र घट बनाने के लिये हो रहा है, फिर भी वह मिट्टी नियत पर्यायों में से जाने के पूर्व घट नहीं बन रहा है। इसका क्या कारण है? कारण स्पष्ट है। बात यह है कि जिसप्रकार मिट्टी के बाद घट तक होनेवाली सब पर्यायों में से गुजरना उसका सुनिश्चित है, उसीप्रकार कुम्भकार का उन पर्यायों के लिये व्यापार करना भी सुनिश्चित है। न तो मिट्टी अपनी पर्यायों को आगे-पीछे कर सकती है और न कुम्भकार ही अपने व्यापार के क्रम को बदल सकता है। जिसप्रकार के व्यापार को वह खेत से मिट्टी लाते समय करता है, उसप्रकार के व्यापार को वह घट पर्याय की निष्पत्ति के समय नहीं करता। और जिसप्रकार के व्यापार को वह घट निष्पत्ति के समय करता है, उसप्रकार के व्यापार को वह खेत में मिट्टी लाते समय नहीं करता। इसका अर्थ हुआ कि खेत से मिट्टी लाने के समय से लेकर उसके घट बनने तक के जितने कार्य हैं, कुम्भकार के व्यापार भी उतने ही प्रकार के हैं और इन दोनों प्रकार के व्यापारों का परस्पर योग है। एक के होने पर दूसरा उसके अनुरूप होता ही है। इसमें फेर-बदल कोई कर नहीं सकता। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर भट्टाकलंकदेव ने अष्टशती में यह वचन कहा है—

तादृशी जायते बुद्धिः व्यवसायश्च तादृशः।

सहायाः तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥

भवितव्यता अर्थात् जिस काल में जिस द्रव्य से जैसा कार्य होना होता है, वैसी ही मनुष्य की बुद्धि होती है, पुरुषार्थ भी वैसा ही होता है और सहायक भी वैसे ही मिलते हैं।

यहाँ भट्टाकलंकदेव भवितव्य को प्रधानता दे रहे हैं। मनुष्य की बुद्धि, उसके पुरुषार्थ और अन्य सहायकों को नहीं। ऐसा क्यों, जबकि कार्य की उत्पत्ति में आभ्यंतर सामग्री के समान बाह्य सामग्री का होना आवश्यक है। तब फिर यहाँ मात्र आभ्यंतर सामग्री को मुख्यता क्यों दी गयी है। स्पष्ट है कि भट्टाकलंकदेव स्वयं यह अनुभव करते हैं कि कार्य में मुख्यता मात्र आभ्यंतर सामग्री को है। उसके होने पर बाह्य सामग्री तो मिलती ही है।

जैनागम में बतलाया है कि द्रव्यलिंग के होने पर भावलिंग होना ही चाहिए, इसका कोई नियम नहीं परंतु भावलिंग के होने पर द्रव्यलिंग होता ही है, ऐसा नियम अवश्य है, सो इस कथन का भी यही तात्पर्य है कि जब जिस कार्य के अनुरूप आभ्यंतर सामग्री होती है, तब बाह्य सामग्री, जो लोक में उसकी सहायक कही जाती है, अवश्य मिलती है। इस नियम का अपवाद नहीं है। निश्चय और व्यवहार का ऐसा ही योग है। लोक में अनादि काल से जितने भी कार्य हुए, हो रहे हैं और होंगे, उन सबमें एकमात्र इसी नियम को लागू समझना चाहिये। यहाँ उपादान की निश्चय संज्ञा है, क्योंकि वह स्व है और निमित्त की व्यवहार संज्ञा है, क्योंकि वह पर है। कार्य की उत्पत्ति स्व से ही होती है, पर से नहीं होती। परंतु कार्य परद्रव्य की जिस पर्याय के सद्भाव में या उसे लक्ष्य कर होता है, उसके द्वारा उस कार्य का ज्ञान कराने के अभिप्राय से उसमें पराश्रितपने का व्यवहार अवश्य किया जाता है। यहाँ व्यवहार का लक्षण ही यह है कि जो अन्य के कार्य को अन्य का कहे, उसे व्यवहार कहते हैं। स्पष्ट है कि कार्य तो उपादान से ही होता है; क्योंकि वह उसकी पर्याय है। निमित्त से नहीं होता, क्योंकि वह उसका परिणाम नहीं। परंतु निश्चय के साथ व्यवहार की युति बतलाने के लिये निमित्त से कार्य हुआ, ऐसा व्यवहार अवश्य किया जाता है, जो सप्रयोजन होने से आगम में ग्राह्य माना गया है।

प्रत्येक मनुष्य क्षायिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का प्रारम्भ केवली और श्रुतकेवली के पादमूल में ही करता है, ऐसा नियम है। पर इसका इतना ही तात्पर्य है कि जब-जब किसी मनुष्य को क्षायिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है, तब-तब ऐसा योग अवश्य होता है। इससे अधिक उसका दूसरा अभिप्राय नहीं। अन्यथा उन सब वेदक सम्यग्दृष्टियों की क्षायिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होनी चाहिये जो केवली और श्रुतकेवली के पादमूल में अवस्थित हैं। परंतु ऐसा नहीं होता। किंतु जिस मनुष्य के क्षायिक सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करने का पाककाल आ जाता है, उसी को उसकी उत्पत्ति होती है और योग भी उसी के अनुरूप मिलता है। यदि पाककाल को प्रधानता न दी जाये तो वही मनुष्य इन दोनों के पादमूल में वर्षों से रह रहा है और वेदक सम्यग्दृष्टि भी है। फिर क्या कारण है कि पहले उसकी उत्पत्ति नहीं हुई। इससे सिद्ध है कि प्रत्येक कार्य स्वकाल के प्राप्त होने पर ही होता है, अन्य काल में नहीं। प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति का ऐसा ही योग है, उसे अन्यथा नहीं किया जा सकता।

यद्यपि कार्योत्पत्ति की यह अमिट व्यवस्था है, तथापि यह संसारी प्राणी अपने अज्ञानवश

ऐसा मानता है कि 'मैंने अन्य द्रव्य के इस कार्य को किया, मैं चाहूँ तो इसमें उलट-फेर कर दूँ आदि।' अरे मूर्ख! तुझमें जब अपनी पर्यायों में उलट-फेर करने की क्षमता नहीं है, तब तू दूसरे के कार्यों को करने या उलट-फेर करने का अहंकार क्यों करता है। स्वामी समन्तभद्र ऐसे अज्ञानी प्राणी के इस अहंकार को भले प्रकार जानते थे। यही कारण है कि वे इसके इस अहंकार को छुड़ाने के अभिप्राय से कार्य-कारणपरम्परा की सम्यक् व्यवस्था का ज्ञान कराते हुए स्वयंभूस्तोत्र में लिखते हैं—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा ।

अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥३३॥

आपने (जिनदेव ने) यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वय से उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है, ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है, क्योंकि संसारी प्राणी स्वयं पर के कार्य करने में या अपनी पर्यायों में हेर-फेर करने में असमर्थ होते हुए भी 'मैं इस कार्य को कर सकता हूँ' इस प्रकार के अहंकार से पीड़ित है। किंतु वह उस (भवितव्यता) के बिना अनेक सहकारी कारणों को मिलाकर भी कार्यों के सम्पन्न करने में समर्थ नहीं होता ॥३३॥

यहाँ पर आचार्य समन्तभद्र ऐसे अज्ञानी प्राणी के लिये 'जन्तु' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। इससे ज्ञात होता है कि जिसप्रकार लोक में 'जन्तु' शब्द क्षुद्र प्राणी के लिये प्रयुक्त होता है, उसीप्रकार स्वामी समन्तभद्र उक्त प्रकार की धारणा को भी अति क्षुद्र अज्ञानमूलक मानते हैं। तभी तो उन्होंने ऐसी धारणावाले प्राणी को 'जन्तु' शब्द द्वारा संबोधित किया है।

जिनागम में कार्यों के लिये प्रायोगिक कार्य और विस्त्रसा कार्य—ऐसा दो प्रकार का उल्लेख आया है। वहाँ बतलाया है कि जिस कार्य में पुरुष का प्रयत्न बाह्य निमित्त है, उसे प्रायोगिक कार्य कहते हैं और शेष की विस्त्रसा कार्य संज्ञा है। उत्तर काल में निमित्तकारणों को दो भागों में विभाजित किया गया दृष्टिगोचर होता है—एक वे जो अपनी क्रिया-व्यापार द्वारा निमित्त होते हैं। जैसे वायु आदि। और दूसरे वे जो अपनी मात्र उपस्थिति द्वारा निमित्त होते हैं। इस कारण जैन परम्परा में निमित्तकारण के प्रेरकनिमित्त और उदासीननिमित्त कारण ऐसे दो भेद किये जाने लगे हैं। इस पर से कुछ विद्वान् ऐसा अर्थ करते हुए प्रतीत होते हैं कि जो निमित्त अपने प्रेरणा द्वारा किसी भी कार्य को नियत समय से आगे-पीछे कर देते हैं, उनकी प्रेरक कारण संज्ञा है और शेष की उदासीन निमित्त संज्ञा है। प्रेरक कारण के विषय में अपने इस मन्तव्य को पुष्ट करने के लिये वे व्यवहारनय की

मुख्यता से आगम में प्रतिपादित अकालमरण, संक्रमण, उत्कृष्ण, अपकर्षण और उदीरणा आदि को उदाहरण रूप में उपस्थित करते हैं। किंतु उनका यह कथन निश्चय-व्यवहार की पद्धति के स्वरूप को न समझने का ही फल है। आगम में तो यह कथन निमित्तों की मुख्यता दिखलाने के लिये ही किया गया है। इसका यदि कोई यह अर्थ करे कि उपादानकारण के अभाव में यदि कोई कार्य केवल निमित्तों के बल से हो जायेगा तो उसका ऐसा अर्थ करना कार्य-कारणपरम्परा की अनभिज्ञता का ही सूचक माना जायेगा। जबकि आगम में उपादान का यह लक्षण किया है कि अनन्तर पूर्व पर्यायविशिष्ट द्रव्य को उपादानकारण कहते हैं। ऐसी अवस्था में इस लक्षण के अनुसार उपादानकारण के अभाव में केवल निमित्त के बल से कोई कार्य हो जायेगा, यह कैसे माना जा सकता है। अर्थात् नहीं माना जा सकता। अतएव कार्य मात्र उपादान से ही होता है और जब कार्य होता है, तब उसका कोई निमित्त अवश्य होता है, यह जो आगम का अभिप्राय है, उसे ही यथावत् मानना चाहिये। प्रत्येक कार्य के प्रति सब निमित्त समान हैं, इस तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य पूज्यपाद उक्त अभिप्राय की पुष्टि करते हुए इष्टोपदेश में कहते हैं—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।

निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥३५॥

अज्ञ विज्ञता को नहीं प्राप्त होता और विज्ञ अज्ञता को नहीं प्राप्त होता। इतना अवश्य है कि जिसप्रकार गतिक्रिया का धर्मास्तिकाय निमित्तमात्र है, उसीप्रकार अन्य सब पदार्थ निमित्तमात्र हैं ॥३५॥

भट्टाकलंकदेव भी इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक (अध्याय १, सूत्र २०) में कहते हैं—

यया मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये दण्ड-चक्र-पौरुषेयप्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति। यतः सत्स्वपि दण्डादिनिमित्तेषु शर्करादिप्रचितो मृत्पिण्डः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणाम-निरुत्सकत्वान्न घटीभवति, अतो मृत्पिण्ड एव बाह्यदण्डादिनिमित्तसापेक्ष आभ्यन्तरपरिणाम-सानिध्याद् घटी भवति न दण्डादय इति दण्डादीनां निमित्तमात्रत्वं भवति।

जैसे मिट्टी के स्वयं भीतर घटभवनरूप परिणाम के अभिमुख होने पर दण्ड, चक्र और पुरुषकृत प्रयत्न आदि निमित्तमात्र होते हैं, क्योंकि दण्डादि निमित्तों के रहने पर भी बालुका-बहुल मिट्टी का पिण्ड स्वयं भीतर घटभवनरूप परिणाम (पर्याय) से निरुत्सुक होने के कारण घट नहीं

होता, अतः बाह्य में दण्डादि निमित्त सापेक्ष मिट्टी का पिण्ड ही भीतर घटभवनरूप परिणाम का सानिध्य होने से घट होता है, दण्डादि घट नहीं होते, इसलिये दण्डादि निमित्त मात्र हैं।

उपादान और निमित्त इनकी युति है, इसलिये केवल उपादान से कार्य की उत्पत्ति मानने पर एकांत का प्रसंग आता है, यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि उपादान स्वयं कार्य का प्रागभावरूप है, जबकि निमित्त का उसमें अत्यन्ताभाव है और अनेकांत दो द्रव्यों में घटित नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वयं अनेकांतस्वरूप होती है। अतः जिसप्रकार स्वरूप की अपेक्षा कार्यरूप द्रव्य में निमित्त का अत्यन्ताभाव है। उसीप्रकार कारण की अपेक्षा भी कार्यद्रव्य में निमित्त का अत्यन्ताभाव है। और जिसका जिसमें अत्यन्ताभाव होता है, वह उसका स्वरूप न होने के कारण न तो कार्य ही होता है और न कारण ही। यही कारण है कि प्रत्येक कार्य में निमित्त को स्वीकार करके भी उसे व्यवहारहेतु ही कहा है। अतएव प्रकृत में यही अनेकांत घटित होता है कि यथार्थ हेतुरूप से कार्य में उपादान की अस्ति है और निमित्त की नास्ति है। यही कारण है कि व्यवहार पक्ष को गौण करके निश्चय पक्ष की मुख्यता से समयसार में यह वचन कहा है—

अण्णदविण्ण अण्णदव्वस्स ण कीरए गुणुप्पाओ ।

तम्हा उ सव्वदव्वा उप्पञ्जते सहावेण ॥३७२॥

अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुण (विशेषता-पर्याय) का उत्पाद नहीं किया जाता, इसलिए सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं ॥३७२॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

न च जीवस्य परद्रव्यं रागादीनुत्पादयतीति शक्यम्, अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यगुणोत्पादकरणा-स्यायोगात्, सर्वद्रव्याणां स्वभावेनैवोत्पादात् ।

और परद्रव्य (द्रव्यकर्म-नोकर्म) जीव के रागादिकों को उत्पन्न करते हैं, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों (पर्यायों) को उत्पन्न करने का अयोग है। कारण कि सभी द्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है।

यह है उपादान और निमित्त की कार्य के प्रति वास्तविक स्थिति का स्वरूपाख्यान। जो भव्य इसे इसी रूप में अन्तःकरण पूर्वक स्वीकार करता है, वह नियम से मोक्षभागी होता है।



सुवर्णपुरी समाचार

परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुख-शांति में विराजमान हैं, प्रवचन में सवेरे भादवा सुदी १५ तक पंचास्तिकाय गाथा १७२-७३ पर विस्तार से प्रवचन हुए बाद में पंचास्तिकाय गाथा १३५ से चालू है। वर्तमान में गाथा १४६-४७ पर प्रवचन चलते हैं। दोपहर को समयसार सर्वविशुद्ध अधिकार चलता है।

इस साल हर साल माफिक दसलक्षण पर्व अच्छी तरह मनाया गया। भादवा सुदी दोज सागर (म.प्र.) निवासी समाज भूषण सेठ श्री भगवानदासजी शोभालालजी के नया मकान का वास्तु था, उन्होंने बड़ी संख्या में मेहमानों को आमन्त्रित किया था, इस निमित्त अपने स्थान पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन तथा जिनेश्वर भगवान की प्रतिमाजी (मण्डप में वेदी सजाकर) विराजमान कराके पूजन तथा भक्ति ठाटबाट से करायी थी—शाम के समय सेठजी आदि ने बड़ी भारी हर्ष सहित भगवान के प्रति भक्ति व्यक्त की थी।

भादवा सुदी दोज सोनगढ़ की बालाओं ने 'हरिषेण चक्रवर्ती' का प्रभावना अंग के विषय पर संवाद ड्रामा किया था। बहनों के संवाद सुंदर वैराग्य और जिनेन्द्र भक्ति प्रेरक थे। भादवा सुदी ५, दसलक्षणी पर्यूषण पर्व का प्रारम्भ में श्री जिनेन्द्र भगवान की रथयात्रा का सुंदर कार्यक्रम भजन भक्ति सहित था। प्रवचन में कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ में से उत्तमक्षमादि दस धर्मों पर हमेशा विवेचन १० दिन तक होता था, बृहद दस लक्षण व्रत उद्यापन मंडप विधान, सुगंधदशमी के दिन दस पूजन, दस स्तोत्र आदि कार्यक्रम था, दस उपवास भी हुये थे। भादवा सुदी १५ पर्व की पूर्णता के हर्षोपलक्ष में श्री जिनवाणी माता (शास्त्रजी) की रथयात्रा निकाली थी। अन्तिम तीन दिनों में रत्नत्रय पूजन हुआ था, क्षमावाणी दिन जिनेन्द्र अभिषेक का बड़ा उत्सव और क्षमापना विधि, दिगंबर जैन विद्यार्थी गृह के छात्रों के द्वारा 'वज्रबाहुकुमार का वैराग्य' का अतिरोचक ढंग से ड्रामा और संवाद का कार्यक्रम रखा था, इनाम बाँटे गये थे। इसप्रकार पर्यूषण पर्व मनाया गया। बम्बई, अहमदाबाद, दिल्ली, इंदौर, कलकत्ता, खंडवा, विदिशा, बड़ौत, दमोह आदि बहुत स्थानों से पर्वराज के समाचार आये हैं।

—ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन

धर्म प्रभावना के समाचार

इस साल दसलक्षण पर्यूषण पर्व में विद्वान उपदेशकों के लिये ३० उपरांत गाँव से माँग आयी थी किंतु २१ जगह जाने का हुआ था। कलकत्ता, अहमदाबाद, भोपाल, दमोह, बड़नगर, विदिशा, बिजोलिया, दहेगाम, रतलाम, प्रतापगढ़, खंडवा, सागर, बम्बई, घाटकोपर, इंदौर, बड़ौत, दिल्ली, सहारनपुर, एत्मादपुर, देहरादून और गढ़ी पुखता।

प्रत्येक गाँव से विस्तार से आये हुए समाचार को अति संक्षेप में दिया जाता है:—

कलकत्ता—दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल की ओर से श्री वीरचंदभाई लिखते हैं कि प्रचार विभाग श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट (सोनगढ़) ने दसलक्षण पर्व के ऊपर श्री खेमचंदजीभाई को भेजकर हमारे सब समाज के ऊपर बड़ा भारी उपकार किया है, आभार।

तारीख ८-९-६४ भाई श्री पधारे, दोनों समय शास्त्रसभा अच्छी तरह चालू रही, समझाने की शैली रोचक और बहुत सरस होने से शास्त्र का अभ्यास न हो वह भी बराबर समझ सकते थे। तारीख २१-९-६४ अहिंसा प्रचार समिति के हॉल में सेठ श्री सोहनलालजी दुगड़ की अध्यक्षता में उन्हीं के हाथ से आ० श्री खेमचंदजीभाई को सम्मान-पत्र दिया गया। पंडित श्री जगन्मोहनलालजी शास्त्री ने उस समय सुंदर वक्तव्य दिया, बाद आठ दस भाईयों ने भी प्रसंगोचित वक्तव्य दिया, बाद खंडगिरी, उदयगिरी, जाकर श्री खेमचंदभाई वायुयान द्वारा सहारनपुर जाने के लिये दिल्ली पधारे, विदाई समारोह में सभी ने आपको बारंबार पधारने की प्रार्थना की और पूज्य स्वामीजी का महान उपकार प्रगट किया।

अहमदाबाद—दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल की ओर से श्री चुन्नीभाई दोशी लिखते हैं कि प्रचार विभाग दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल ने हमारी विनती को स्वीकार करके भाई श्री पंडित हिम्मतलालजी जोबालिया को दसलक्षण पर्व पर हमारे यहाँ भेजा, सो हमारे लिये अति हर्ष और धर्म प्रभावना का कारण हुआ है। हम सभी अति हार्दिक भाव से आभार मानते हैं।

बारह दिन का कार्यक्रम—हमारे दो मर्तबा प्रवचन (समयसारजी तथा मोक्षमार्ग प्रकाशकजी) उपरांत जिनमंदिर में पूजा भक्ति स्वाध्याय होता था। दोपहर में भी वांचन, पठन, तत्त्वचर्चा, तथा शाम को प्रतिक्रमण आदि के होने से जैन व जैनेतर समाज ने अच्छी तरह लाभ उठाया है। पूज्य स्वामीजी के द्वारा जो सूक्ष्म कथन और नय विभाग, न्याय, गूढ़ सिद्धांत सुगमरूप

से प्रकाश में आ रहे हैं, उनको शास्त्र आधारसहित पूर्वापर संबंध से अनेक पहलुओं द्वारा दृढ़ता से समझाते थे। हम भी हिम्मतभाई के भी अति अति आभारी हैं।

भोपाल—(मध्यप्रदेश) श्री जैन पंचायत कमेटी (रजि०) भोपाल तारीख २३-९-६४ मंत्री श्री डालचंदजी सा० लिखते हैं कि माननीय अध्यक्ष महोदय मुमुक्षु महामंडल तथा श्री दिगंबर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट (सोनगढ़) सेवा में निवेदन है कि आपके सहयोग से हमने यहाँ पर्यूषण पर्व को बड़े विशेष ढंग से मनाया है। आपने पूज्य ब्रह्मचारी राजारामजी को हमारे अनुरोध पर भेजकर हमें बड़ा योग दिया है; आशा है कि भविष्य में भी इसीप्रकार अनुकम्पा बनी रहेगी। ब्रह्मचारी राजारामजी का संबंध यहाँ की समाज का बड़ा पुराना, प्रारंभ से ही है, उनका प्रयत्न, स्वाध्याय की प्रवृत्ति अधिक से अधिक हो, ऐसा रहा है। किंतु इस वर्ष सोनगढ़ से आने के पश्चात् तो उनमें एक अपूर्व दृष्टि का सौम्य देखने को मिला। तत्त्व के निरूपण में वास्तविकता परिलक्षित हुई। यह सब परमोपकारी पूज्य कानजीस्वामी के उद्बोधन का ही फल है।

बुलन्दशहर—श्री जैन समाज के द्वारा श्री शीतलप्रसादजी जैन का सविस्तार समाचार दशलक्षण पर्व कार्यक्रम का आया है।

मलकापुर—श्री दिगम्बर जैन समाज की ओर से भी उपरोक्त समाचार है। आभार।

दमोह—सकल दिगम्बर जैन समाज की ओर से श्री पंडित अमृतलालजी शास्त्र लिखते हैं कि,

श्री माननीय प्रमुख महोदय, सविनय जयजिनेश।

हमारे आमंत्रण से श्री पंडित धनलालजी (लश्कर निवासी) आपके यहाँ से पधारे। आपके प्रवचनों से धर्म की चर्चा बहुत हुई। समाज ने लाभ लिया। १० दिन तक, नयविभाग द्वारा हेय, उपादेय तत्त्व समझानेवाले आपके प्रवचन हुए। पूर्णिमा को श्री जिनेन्द्र रथयात्रा निकाली गई और पड़वा को क्षमावाणी महोत्सव मनाया गया। पंडितजी का स्वभाव बड़ा शांतिप्रिय, मधुर भाषी, संयमी हैं। भेंटस्वरूप कुछ भी नहीं लिया।

आपने श्री धनलालजी को भेजकर हमको सन्मार्ग के प्रकाश में लिया, उसके लिये हमारा सकल समाज आभारी है। समय-समय पर विद्वान भेजकर हम लोगों को कृतार्थ करते रहेंगे।

बड़नगर—तारीख २३-९-६४, दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल के अध्यक्ष श्री सेठ पूनमचंदजी, उपाध्याय श्री सेठ गेंदालालजी, श्री रूपचंदजी लिखते हैं कि—श्री पर्यूषण पर्व के

मंगलमयी अवसर पर सोनगढ़ से श्री छोटेलालजी गुलाबचंदजी गाँधी सोनासण निवासी के पधारने से बहुत ही धर्म लाभ हुआ। आपका प्रवचन दिन में तीन मर्तबा एक-एक घण्टा होता था, जिसमें सर्व बात में सारभूत बात 'अंतर्मुख होना' को सामने रखकर निश्चय-व्यवहार, निमित्त-नैमित्तिक, कर्ता-कर्म, षटकारक, व्याप्य-व्यापक का स्वरूप आदि यथार्थरूप से प्रवचन होते थे, तथा वैद्य पंडित विष्णुकुमारजी का मध्याह्न में ३ से ४ तक श्री तत्त्वार्थसूत्रजी पर तथा रात्रि में दसलक्षण धर्म पर व्याख्यान होता था।

तारीख २०-९-६४ को श्री छोटालालजी के सदुपदेश से स्थानीय दिगम्बर जैन समाज ने पवित्र जीवन विकास के लिये मुमुक्षु मंडल स्थापित किया, तथा ग्रंथ मंगवाने के लिये ५००) रुपये का चन्दा भी किया।

तारीख २१-९-६४ को सेठ श्री रूपचंदजी शाह की अध्यक्षता में समाज की ओर से श्री छोटालालजी गांधी का स्नेह, आदर पूर्वक विदाई समारोह मनाया; जिसमें श्री पंडित चुन्नीलालजी न्यायतीर्थ श्री पंडित देवेन्द्रकुमारजी महामंत्री श्री फूलचंदजी अजमेरा, श्री विष्णुकुमारजी श्री मोहनलालजी वैद्य आदि ने, श्री गांधी के प्रवचनों की प्रशंसा की; एवं श्री विमलचंदजी शाह ने कविता पाठ किया। श्री छोटालालजी गांधी को यहाँ की समाज ने सहृदयता से सम्मानित किया। इसप्रकार सोनगढ़ की ओर से धर्मात्मा वक्ता महोदय के आने से इस वर्ष बहुत ही धर्म प्रभावना हुई है।

विदिशा—से तारीख २१-९-६४ के पत्र में श्री पंडित प्रकाशचंद्रजी शास्त्री संपादक श्री सन्मति संदेश दिल्ली, आप दसलक्षण पर्व पर आमंत्रण द्वारा विदिशा पधारे थे—लिखते हैं कि यहाँ जैन समाज में स्वाध्याय की शैली भोपाल के समान उत्तम रही है। व्याख्यान में उच्च कक्षा के शिक्षित भाईयों ने भी अच्छी संख्या में भाग लिया है। सभी को बहुत आनंद हुआ है। और हमेशा तीन बार प्रवचन तथा शंका-समाधान आदि धार्मिक कार्यक्रम १० दिन तक विशेषरूप से हुआ।

बिजौलियां—दिगम्बर जैन समाज की ओर से श्री केसरीमलजी, श्री सोहनलालजी आदि लिखते हैं कि हमारे आमंत्रण को स्वीकार करके आपने ब्रह्मचारीजी को भेजा, बड़ा उपकार हुआ है—ब्रह्मचारी केशवलालजी महाराज के आने से दसलक्षण पर्व में बहुत व्यवस्थित व्यस्त कार्यक्रम रहा। सवेरे ५ बजे से रात्रि को १० बजे तक का समय निकलता हुआ मालूम नहीं पड़ता था। ब्रह्मचारीजी द्वारा जैन तत्त्व मीमांसा, समयसारजी कर्ताकर्म अधिकार, दसलक्षण धर्म, निश्चय व्यवहार आदि विषयों पर आगमानुकूल भाव जन साधारण के सन्मुख रखकर धर्म जिज्ञासा पैदा

कराकर मानव जाति के कल्याण में आपका प्रयास अधिक फलदायी साबित हुआ। रात्रि को ९ से १० बजे ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव पुस्तक में से सम्यक् अनेकांत, कारण-कार्य सहित क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप स्पष्ट करते थे और उसका प्रयोजन, विभाव, भेद, अंश का आश्रय और कर्तृत्व हटाकर अकर्ता ज्ञाता स्वभाव सन्मुख होने का है, वह समझाया, क्रमबद्ध का स्वयंप व उनमें पुरुषार्थ आदि पाँचों समवाय कैसे आते हैं, वह आगमयुक्ति द्वारा सिद्ध कर दिया है। जिससे सबको विशेष संतोष हुआ। दोपहर को ३ से ५ तक सूत्रजी पर श्री पंडित भँवरलालजी द्वारा पाठन होता था, बाद शंका-समाधान ब्रह्मचारीजी द्वारा होता था। हम आपके प्रचार विभाग का तथा ब्रह्मचारीजी का बहुत उपकार मानते हैं।

दहेगाँव (गुजरात)—में श्री हीरालालजी को आमंत्रण से भेजा गया था, जैन जैनेतर समाज ने पर्यूषण पर्व में अच्छा लाभ लिया। नूतन जिनमंदिर में पूजन भक्ति, रथयात्रा आदि कार्यक्रम उत्साहपूर्वक थे। यहाँ प्रथम बार ही दिगम्बर जैन मंदिर बना है, स्वाध्याय मंदिर हॉल बननेवाला है।

रतलाम—दिगम्बर जैन समाज के आमंत्रण से श्री नवनीतभाई सी. जवेरी (बंबई) द्वारा प्रचारकजी ब्रह्मचारी रमेशचंद्रजी पधारे थे—टेपरेकार्डिंग रील द्वारा पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचन, जैन शिक्षण कक्षा, शास्त्र पठन तथा तीर्थयात्रा की फिल्म का कार्यक्रम था। बाद—

प्रतापगढ़—दिगम्बर जैन समाज द्वारा आमन्त्रण से प्रचारकजी १९ दिन ठहरे, यहाँ दसलक्षण पर्व में दोनों जिनमंदिर में कार्यक्रम रहा और समाज ने बहुत अच्छी तरह लाभ लिये।

खंडवा—दिगम्बर जैन समाज के आमंत्रण से ब्रह्मचारी हेमराजजी जैन (उदयपुर-भोपाल निवासी) आमंत्रण से पधारे। १५ दिन ठोस धार्मिक कार्यक्रम द्वारा खंडवा जैन समाज ने अच्छा लाभ उठाया। १२ दिन तक ब्रह्मचारीजी ने हमेशा ८ घंटा तक का धार्मिक कार्यक्रम किया, तीन बार प्रवचन उपरांत शंका-समाधान में स्वानुभव सहित युक्ति, आगम का आधार और सुगम दृष्टांतों के द्वारा सुंदर शैली से बड़ा भारी उत्साह दर्शाकर हमारा समाधान किया। आपसे सब समाज ने सम्मान समारोह सहित आपका आभार मानकर आपको बारम्बार पधारने की प्रार्थना की, और पूज्य स्वामीजी का अति उपकार माना।

सागर—श्री डालचंदजी सर्राफ, अध्यक्ष दिगम्बर जैन चौधरनबाई मंदिर, लिखते हैं कि दिगंबर जैन समाज के द्वारा बुलाने से चारित्रशील विद्वान पंडित श्री हुकमचन्दजी (अशोकनगर

से) पधारे थे। १२ दिन तक पर्यूषण पर्व के कार्यक्रम में, आपके प्रवचनों आदि द्वारा भली प्रकार धर्म प्रभावना हुई। श्री समयसारजी पर बड़ी विद्वत्ता के साथ १० दिन प्रवचन हुए। पंडितजी के प्रवचन लगभग ५०० श्रावक-श्राविकायें बड़ी रुचि से श्रवण करते थे।

बम्बई—दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा बुलाने से श्री देवशीभाई, राजकोट निवासी पधारे थे। यहाँ २० दिन तक असाधारण प्रभाव उत्पादक प्रवचन, धर्मचर्चा, भक्ति, जिनमंदिर में पूजा, पर्व दिनों में रात्रि का जागरण, दस-दस उपवास, व्रतों के उद्यापन तथा जिनेन्द्र रथोत्सव आदि बड़े उत्साहमय कार्यक्रम रहे, जो देखते ही बनते थे। श्री देवशीभाई जितने दस मास तक अफ्रीका, नायरोबी, मोम्बासा, तथा एडन में धर्म प्रचार द्वारा जैनधर्म की असाधारण सेवा की है, आपने बम्बई के जैन समाज में जो अतिशय जागृति व उल्लास देखा, उसका सोनगढ़ आने के पश्चात् धन्यवाद सहित खुशी के समाचार दिये। आपकी अध्यात्म भजनमय काव्य कला, और धर्म वात्सल्यता सुप्रसिद्ध और प्रशंसनीय है।

घाटकोपर—(बम्बई) जैन समाज के आमंत्रण से श्री चिमनलाल ताराचंदजी पधारे थे। दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल के प्रमुख श्री जयंतीलालजी आदि ने हर साल माफिक उत्तम प्रकार से भव्य आयोजन द्वारा ज्यादा से ज्यादा जन संख्या, धर्म श्रवण द्वारा तत्त्व-ज्ञान का लाभ ले सकें ऐसी उत्तम सुविधा कर रखी थी। ३० दिन से (श्री चिमनभाई द्वारा) शास्त्र सभा, जैन शिक्षण वर्ग, तत्त्व-चर्चा द्वारा जैन जैनेतर समाज में परम उपकारी पूज्य स्वामीजी के पवित्र धर्म उद्योतन की प्रभावना हो रही है। श्री चिमनभाई द्वारा पर्व के दिनों में १० घंटे तक धार्मिक प्रभावना के अनुरूप कार्यक्रम चलता था और ऐसे चिमनभाई को चार-छह मास तक प्रचारार्थ भेजा जाये तो बहुत धर्म प्रभावना होगी इत्यादि.....

इंदौर—(मध्यप्रदेश) दिगम्बर जैन समाज के अति अनुरोधवश श्री बाबूभाई मेहता (फतेपुर निवासी) को भेजा गया था। विशेषरूप में आश्चर्यकारी धर्म प्रभावना हुई, उसका वर्णन श्री पूनमचंदजी छाबड़ा के द्वारा विस्तार से आया है, उसमें से संक्षेप:—

श्रीमान आत्मारथी ब्रह्मचारी बन्धु श्री बाबूभाई (फतेपुर-गुजराज निवासी) अपनी मंडली सहित तारीख ९-९-६४ को दिगम्बर जैन समाज के भारी अनुरोधवश पधारे। साथ में फतेपुर, तलोद, रखियाल, दाहोद, मेघनगर आदि जगह से अनेक मुमुक्षुओं का साथ होने से इनको विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ा। भक्ति पूजन सामूहिक सामायिक में पूरी मंडली का पूरा सहयोग रहता था।

प्रथम दिन स्वागत समारोह मनाकर बाद में सभी मेहमानों को सेठजी के शीशमहल में ठहराया गया, सवेरे ५ से ६ तक सामूहिक सामायिक, ६ से ८ तक पूजन, ९ से १० तक विशाल पांडाल में प्रवचन, दोपहर को २ से ४ तक श्री तत्त्वार्थसूत्रजी का अर्थ, शाम को ६ से ७ तक सामूहिक सामायिक, रात्रि में ७ से ८ तक जिनमंदिर में भक्ति, ८ से ९ तक प्रवचन, आदि का कार्यक्रम रहा था। तीनों समय प्रवचन में जनता ८-१० हजार की तादाद में बड़ी रुचि से भाग लेने के लिये आती थी। उपस्थिति दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही थी। श्वेताम्बर जैन समाज में उन्हीं के धर्म पर्व पर बाहर से ४-५ हजार व्यक्ति आये थे, उनमें से भी कई धर्म जिज्ञासु श्री बाबूभाई के प्रवचन सुनने के लिये आते थे। दोपहर को सूत्रजी का अर्थ ऐसा रोचक, सरल, और यथार्थता को लिये होता था कि यहाँ की समाज को यह मालूम हुआ कि यह पहला ही अवसर है, जो इसप्रकार का अभूतपूर्व सुनने को मिला। प्रति वर्ष इस पर्व में सूत्रजी का अर्थ सुनने में प्रारम्भ में ५०-७५ तथा अन्त में ५-७ भाई बहन रहते थे। जबकि इस वर्ष प्रारम्भ में १५०० तथा अन्त में तीन हजार की उपस्थिति रहती रही। रूखियाल निवासी श्री नेमीचंदजी दोपहर के समय जैन शिक्षण कक्षा चलाते थे, उसमें २०० से ३०० की संख्या में जिज्ञासु भाई लाभ लेते थे। सभी भाई-बहिन जो ८०-९० वर्ष के आयु तक के यह कहते हुए पाये गये कि यह बाबूभाई किस पाठशाला में पढ़कर आये हैं। ऐसा तत्त्व का प्रवचन, सूत्रजी का अर्थ पूर्व में हमारे जीवन में कभी नहीं सुना है, यह तो कोई पूज्य कानजीस्वामी का ही पुण्य प्रताप है। सभा में नित्य बड़ी संख्या में वकील, डॉक्टर, प्रोफेसर, तथा नेता लोग और उच्च शिक्षा प्राप्त भी आते थे। युवा स्त्री पुरुष वर्ग जो पूर्व में जैनधर्म में भाग नहीं लेते थे, उनमें से बहुत संख्या में तत्परता पूर्वक श्री बाबूभाई का प्रवचन सुनने आने लगे और श्रद्धावान हुये। यह विशेषता देखकर सुसंयमी धर्म प्रभावक बाबूभाई की जितनी प्रशंसा की जाये कम है। यह सब पूज्य स्वामीजी की कृपा है।

बड़ौत—दिगम्बर जैन समाज के आमंत्रण से श्री पंडित कैलाशचंद्रजी (बुलन्दशहर निवासी) को भेजा गया था। आपने २० दिन तक हमेशा ८ घंटे तक प्रवचन, तत्त्वचर्चा, स्वाध्याय और जैन शिक्षण कक्षा द्वारा बड़े भारी उत्साह और लगन के साथ ठोस कार्यक्रम दिया, और बड़ौत जैन समाज ने अपूर्व प्रेम सहित लाभ उठाया। पंडितजी से एक महिना और ठहरने की जोरदार मांग की है। बड़ौत समाज की ओर से अतिशय खुशी, धन्यवाद के समाचार आये हैं।

गढ़ी-पुख्ता—(जिला मुजफ्फरनगर) जैन समाज के आमंत्रण से श्री कैलाशचंद्रजी (बुलन्दशहर निवासी) तारीख २९-९-६४ को पधारे हैं।

दिल्ली—दिगम्बर जैन समाज के आमंत्रण से श्री पंडित फूलचंद्रजी सिद्धांत शास्त्री दसलक्षण पर्व पर पधारे थे। श्री श्रीपालजी जैन लिखते हैं कि पंडितजी का प्रवचन दोपहर २ से ४ तक तथा रात्रि को ८ से ९ तक वैद्यवाडा जिनमंदिर में होता था, प्रवचन बहुत उत्तम रीति से व सुंदर ढंग से समझाकर करते थे, सुबह के टाइम में अलग-अलग स्थान पर जैसे करोलबाग, मोडलबस्ती, शाहदरा, नया मंदिर, लालमंदिरजी में प्रवचन हुआ था, प्रवचन बहुत ही सरल भाषा में दृष्टान्त देकर समझाते थे, हमेशा दोपहर १ से २ बजे तक शंका-समाधान को टाइम देते थे। यहाँ पर पंडितजी को सब जिनमंदिरों के दर्शन कराये गये, समाज की ओर से सम्मान पत्र दिया गयाथा, उसमें सोनगढ़ का नाम तथा पवित्र धर्म प्रभावना के प्रणेता श्री स्वामीजी की अपूर्व प्रशंसा की थी।

सहारनपुर—(उत्तरप्रदेश) तारीख २६-९-६४ दिगंबर जैन समाज की ओर से श्री पंडित देवचन्द्रजी साहित्याचार्य लिखते हैं कि आदरणीय श्री पंडित खेमचंदभाई सेठ तारीख २४ को पधारे, आपकी दिव्यवाणी जरा भी अति के बिना पूज्य स्वामीजी द्वारा वितरित किये गये प्रसाद को यहाँ भव्य जीव अपना अहो भाग्य समझकर स्वीकार कर रहे हैं। अगाध पांडित्य और अत्यंत ग्राह्य प्रवचन शैली के कारण सभी के अच्छी तरह समाधान हुआ है। ऐसे मनोज्ञ वक्ता को यहाँ भेजकर सम्यग्ज्ञान के समीचीन प्रचार में सहयोग दिया है। पूज्य स्वामीजी को हमारा प्रणाम कहना, श्री खेमचंदभाई के लिये देहरादून से कई भाई खास आमंत्रण देने आये थे। तारीख ३०-९-६४ देहरादून में दो दिन का कार्यक्रम है। बाद देहली छह दिन का कार्यक्रम है। सहारनपुर में पंडितजी के पधारने से समस्त जैनजैनेतर समाज द्वारा अभूतपूर्व आनंद की लहर उठी, छह दिन तक सबने बड़ी संख्या में लाभ लिया। [स्वागत अध्यक्ष श्री अनंतराम मुख्तार, तथा श्री जिनेश्वरप्रसादजी बजाज द्वारा प्रकाशित निवेदन पढ़कर उन्हीं का धार्मिक परिचय और पूज्य स्वामीजी तथा श्री खेमचंदभाई के प्रति यथार्थ प्रेम कितना है, वह प्रगट होता है।]



जिनागम का विधान

पक्षातिक्रांत अनुभूति वह समस्त जिनागम का विधान है।

(समयसार कलश ९०-९१ तथा गाथा १४३ के प्रवचन से)

चैतन्यतत्त्व का अनुभव नयपक्ष के विकल्पों द्वारा नहीं होता। नयपक्ष के समस्त विकल्प छोड़कर, ज्ञान को विकल्प से पृथक् करके स्वरूपोन्मुख करने से चैतन्य के साक्षात् अमृत का अनुभव होता है। स्वभावसन्मुख न हो और उसके विकल्प करता रहे तो मात्र विकल्पों का ही अनुभव होता है, चैतन्य के अतीन्द्रिय आनंदरूप अमृत का अनुभव नहीं होता। नयपक्ष की भूमिका ही ऐसी है कि उसमें अनेक विकल्पों का जाल उठता है, किंतु जो ज्ञान उस जाल में न अटककर विकल्प को लाँघकर चैतन्यस्वभाव के साथ एकता करता है, उसका नाम आत्म-अनुभूति है, उसमें परम समतारस है; उसमें विकल्प का अकर्तृत्व परिणमित हो गया है। जहाँ चैतन्यसन्मुख परिणमन हुआ, वहाँ विकल्प का जाल नहीं उठता, वह अपने आप छूट जाता है, और ज्ञान में से उसका कर्तृत्व भी छूट जाता है।

अहा, देखो यह शांत-शांत निर्विकल्प चैतन्यरस के अनुभव की रीति! शुद्धनय के विकल्प का भी कर्तृत्व चैतन्य के अनुभव को रोकनेवाला है। पहले यह बात अंतर्मुख लक्ष में—निर्णय में लेकर दृढ़ करना चाहिये। चैतन्य के अवलंबन में ही मेरा हित है, विकल्प का अंश भी मुझे अवलंबनरूप नहीं है—ऐसे दृढ़ निर्णयपूर्वक स्वरूपोन्मुख होने से विकल्प समा जाते हैं। पश्चात् जो विकल्प उठते हैं, वे ज्ञान की अनुभूति से भिन्नरूप ही उठते हैं—ज्ञान के कायरूप से नहीं। जिस अनुभूति में चैतन्य के शांतरस का स्वाद लिया, उसमें अब विकल्प की आकुलता का रस नहीं समा सकता। सम्यग्दृष्टि के सर्व विकल्प शुद्धात्मा की अनुभूति से बाहर के बाहर ही रहते हैं। विकल्प तो अनेक प्रकार के हैं और चैतन्य की अनुभूति तो मात्र शांतरस युक्त ही है। अहा, द्रव्य-पर्याय जहाँ समरसी परिणमित हुए, वहाँ बीच में कोई विकल्प नहीं रहा, आनंद ही रहा, स्वरूप की अनुभूति ही रही, भगवान् आत्मा स्वयं 'समयसार' हो गया। ऐसी आत्मानुभूति ही समस्त जिनागम का विधान है।

जहाँ चिदानंदतत्त्व जागृत हुआ, वहाँ विकल्प भागे। जिसप्रकार सिंह का स्फुरण होते ही हिरन दूर भाग जाते हैं; उसीप्रकार जहाँ चैतन्यसिंह अपनी स्वानुभूति में स्फुरायमान हुआ, वहाँ नयपक्ष के समस्त विकल्प हिरन की भाँति भाग गये। वीर पुरुष के धनुष की टंकार होते ही कायर

सेना भाग जाती है, उसीप्रकार जहाँ स्वावलंबी पुरुषार्थरूप वीरता जागृत हुई, वहाँ पराश्रित विकल्प हिरन की भाँति भागते हैं। जैसे—जब श्रीकृष्ण ने युद्ध प्रारम्भ किया, तब धनुष हाथ में लेते ही तीसरे भाग की सेना भाग गयी, फिर जहाँ धनुष की टंकार की, वहाँ और भी तीसरे भाग की सेना भाग खड़ी हुई, और अंत में तीसरे भाग की सेना हारकर भागी; उसीप्रकार जहाँ कर्म को हरनेवाला कृष्ण जागृत हुआ और चिदानंदस्वभाव की श्रद्धा की वहाँ कर्म में से दर्शनमोह तो दूर भाग गया; फिर सम्यग्ज्ञान द्वारा उपयोग का स्वरूप के साथ संधान किया, वहाँ उस सम्यग्ज्ञानरूपी धनुष की टंकार से मिथ्या विकल्प दूर भागे—सम्यग्ज्ञान ने विकल्पों को अपने से भिन्न जानकर भगा दिया, और फिर जो शेष अस्थिरता के विकल्प रहे, उनका सामर्थ्य अत्यंत अल्प है। स्वरूप की स्थिरता द्वारा ज्ञानी उन्हें अल्पकाल में नष्ट कर देता है।

‘स्वसन्मुख अनुभूति में जहाँ आत्मा स्फुरायमान हुआ, वहाँ कोई विकल्प ही नहीं रहा;—ऐसी अनुभूति स्वरूप चैतन्य तेज का पुंज मैं हूँ’—ऐसा धर्मी अनुभव करता है। विकल्प का स्फुरण हो, वह मैं नहीं हूँ; जिसमें चैतन्यपुंज का स्मरण हो, वही मैं हूँ। अनुभव में एकाग्र होने पर विकल्प को छोड़ना नहीं पड़ता, किंतु विकल्प उससमय स्वयं विलय को प्राप्त हो गये हैं, अनुभूति में अकेले समरस चैतन्यभाव का अनुभव होता है।



इष्टोपदेश

हे भव्य! तू यह समझ कि यहाँ संसार में मेरा कुछ भी नहीं है। यदि तू (भेदविज्ञान द्वारा स्वसन्मुख ज्ञातापना-धैर्य द्वारा) इसप्रकार से रहता है तो शीघ्र ही तीनों लोकों का स्वामी (सर्वज्ञ परमात्मा) हो जायेगा। (११०)

शरीर एवं अन्य बाह्य पदार्थों में ममत्वबुद्धि रखनेवाला प्राणी कर्मबंध को प्राप्त होता है तथा इसके विपरीत निर्मल जीव—मैं तो सदा ज्ञानानंदस्वरूप हूँ, मेरा अन्य कुछ भी नहीं है और न मैं भी किसी का हूँ, न किसी का कर्ता—भोक्ता या स्वामी हूँ, इसप्रकार भावभासन सहित निःसंदेह होनेवाला-निर्मोही भव्यजीव मुक्ति को प्राप्त होता है। इसलिये प्रयत्नपूर्वक उस निर्ममत्व का-अकिंचनता का चिन्तन करना चाहिये। (२६)

नया प्रकाशन—

सम्यक्त्व प्रेरक

अष्ट प्रवचन

[प्रकाशक समाजभूषण सेठ भगवानदास शोभालाल जैन]

सागर (मध्यप्रदेश)

श्री ज्ञान समुच्चयसार आदि ग्रंथों पर

पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन

पृष्ठ संख्या १९४ * मूल्य १.५०/- * पोस्टेज ०.४०

एक से ज्यादा खरीदने पर २५ प्रतिशत कमीशन

मिलने का पता—

(१) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

पोस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

(२) श्री हजारीलाल ताराचंद समैया

पो० ललितपुर (उत्तरप्रदेश)



तैयार हो गया है !

अवश्य मंगाइये !

आत्म प्रसिद्धि

श्री समयसारजी शास्त्र में वर्णित ४७ शक्तियों के ऊपर पूज्य श्री कानजीस्वामी के विस्तृत प्रवचनों का संग्रह, बढ़िया पुष्ट कागज, सुंदर जिल्द और सुंदर छपाई, पृष्ठ संख्या ६२०, घटाया हुआ मूल्य ४) रुपये । थोक लेनेवालों को १२ प्रतिशत कमीशन । यह ग्रंथ श्री सेठी ग्रंथमाला बंबई की ओर से छपा है ।

पता— श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

पोस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) तीसरी आवृत्ति

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकांत पूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रंथ अवश्य पढ़नेयोग्य है, पत्र संख्या ९००, मूल्य लागत से बहुत कम मात्र ५) रखा गया है। पोस्टेज आदि अलग।



लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका (चतुर्थ आवृत्ति)

१८००० बुक छपकर बिक चुकी हैं, समाज में धर्म जिज्ञासा का यह नाप है। शास्त्राधार सहित संक्षेप में खास प्रयोजनभूत तत्त्वज्ञान की जानकारी के लिये यह उत्तम मार्ग दर्शक प्रवेशिका है। जैन जैनेतर सभी जिज्ञासुओं में निःसंकोच बांटने योग्य है। इंगलिश भाषा में भी अनुवाद कराने योग्य है। जिसमें अत्यंत स्पष्ट सुगम शैली से मूलभूत अति आवश्यकीय बातों का ज्ञान कराया गया है। बढ़िया कागज, छपाई, सुंदर आकार पृष्ठ संख्या १०५, मूल्य-सिर्फ २५ नये पैसे, पोस्टेजादि अलग।

पता:— श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१-५०
प्रवचनसार	प्रेस में	जैन बाल पोथी	०-२५
नियमसार	५-५०	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
पंचास्तिकाय	४-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
आत्मप्रसिद्धि	४-०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०)	५-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
स्वयंभू स्तोत्र	०-६०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
मुक्ति का मार्ग	०-६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग २	४-७५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	अध्यात्मपाठसंग्रह पक्की जिल्द	५-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	” ” कच्ची जिल्द	२-२५
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		भक्ति पाठ संग्रह	१-०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
” ” द्वितीय भाग	२-०	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
भाग-२ ०-६० भाग-३	०-६०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
योगसार-निमित्त उपादान दोहा	०-१२	‘आत्मधर्म मासिक’ वार्षिक चंदा	३-०
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	” फाईलें सजिल्द	३-७५
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन बृ० पूजा	०-७५	जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६-०		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)

प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।